

दृष्टिवाद का स्वरूप

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.शा.

बारहवाँ अंग आगम दृष्टिवाद इस समय अनुपलब्ध है। इसके पाँच विभागों का उल्लेख मिलता है— १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वगत, ४. अनुयोग और ५. चूलिका। सम्प्रति उपलब्ध स्रोतों के आधार पर प्रस्तुत आलेख में दृष्टिवाद का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह लेख आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज द्वारा रचित 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग-२' से साधार उद्धृत किया गया है। —सम्पादक

दिट्ठिवाय-दृष्टिवाद-दृष्टिपात—यह प्रवचनपुरुष का बाहरवाँ अंग है, जिसमें संसार के समस्त दर्शनों और नयों का निरूपण किया गया है।^१ अथवा जिसमें सम्यक्त्व आदि दृष्टियों अर्थात् दर्शनों का विवेचन किया गया है।^२

दृष्टिवाद नामक यह बारहवाँ अंग विलुप्त हो चुका है, अतः आज यह कहीं उपलब्ध नहीं होता। वीर निर्वाण सं. १७० में श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गगमन के पश्चात् दृष्टिवाद का हास प्रारम्भ हुआ और वी.नि. सं. १००० में यह पूर्णतः (शब्द रूप से पूर्णतः और अर्थ रूप में अधिकांशतः) विलुप्त हो गया।^३

स्थानांग में दृष्टिवाद के दस नाम बताये गये हैं जो इस प्रकार हैं—

१. दृष्टिवाद २. हेतुवाद ३. भूतवाद ४. तथ्यवाद ५. सम्यक्वाद ६. धर्मवाद ७. भाषाविचय अथवा भाषाविजय ८. पूर्वगत ९. अनुयोगगत और १०. सर्वप्राण— भूतजीवसत्त्वसुखावह।^४

समवायांग एवं नन्दीसूत्र के अनुसार दृष्टिवाद के पाँच विभाग कहे गये हैं— परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका।^५ इन पाँचों विभागों के विभिन्न भेदप्रभेदों का समवायांग एवं नन्दीसूत्र में विवरण दिया गया है, जिनका सारांश यह है कि दृष्टिवाद के प्रथम विभाग परिकर्म के अन्तर्गत लिपिविज्ञान और सर्वांगपूर्ण गणित विद्या का विवेचन था। इसके दूसरे भेद सूत्रविभाग में छिन्न—छेद नय, अछिन्न—छेद नय, त्रिक नय तथा चतुर्नय की परिपाटियों में से प्रथम— छिन्न छेद नय और चतुर्थ चतुर्नय ये दो परिपाटियाँ निर्मशों की और अछिन्न छेदनय एवं त्रिकनय की परिपाटियाँ आजीविकों की कही गयी है।

दृष्टिवाद का तीसरा विभाग— पूर्वगत विभाग अन्य सब विभागों से अधिक विशाल और बड़ा महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित १४ पूर्व श्रे—

1. उत्पादपूर्व— इसमें सब द्रव्य और पर्यायों के उत्पाद (उत्पत्ति) की प्ररूपणा की गई थी।^६ इसका पदपरिमाण १ कोटि माना गया है।
2. अग्रायणीयपूर्व— इसमें सभी द्रव्य, पर्याय और जीवविशेष के

अप्रपरिमाण का वर्णन किया गया था। इसका पद परिमाण ६९ लाख पद माना गया है।

3. **वीर्यप्रवाद**— इसमें सकर्म एवं निष्कर्म जीव तथा अजीव के वीर्य-शक्तिविशेष का वर्णन था। इसकी पद संख्या ७० लाख मानी गई है।

4. **अस्तित्वास्तित्प्रवाद पूर्व**— इसमें वस्तुओं के अस्तित्व तथा नास्तित्व के वर्णन के साथ साथ धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का अस्तित्व और खपुष्प आदि का नास्तित्व तथा प्रत्येक द्रव्य के स्वरूप से अस्तित्व एवं पररूप से नास्तित्व का प्रतिपादन किया गया था। इसका पदपरिमाण ६० लाख पद बताया गया है।

5. **ज्ञानप्रवादपूर्व**— इसमें मतिज्ञान आदि ५ ज्ञान तथा इनके भेद—प्रभेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसकी पदसंख्या १ करोड़ मानी गई है।

6. **सत्यप्रवादपूर्व** - इसमें सत्यवचन अथवा संयम का, प्रतिपक्ष (असत्यों के स्वरूपों) के विवेचन के साथ-साथ विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। इसमें कुल १ करोड़ और ६ पद होने का उल्लेख मिलता है।

7. **आत्मप्रवादपूर्व**— इसमें आत्मा के स्वरूप, उसकी व्यापकता, ज्ञातृभाव तथा भोक्तापन संबंधी विवेचन अनेक नयमतों की दृष्टि से किया गया था। इसमें २६ करोड़ पद माने गये हैं।

8. **कर्मप्रवादपूर्व**— इसमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों का, उनकी प्रकृतियों, स्थितियों, शक्तियों एवं परिमाणों आदि का बंध के भेद—प्रभेद सहित विस्तारपूर्वक वर्णन था। इस पूर्व की पदसंख्या १ करोड़ ८० हजार पद बताई गई है।

9. **प्रत्याख्यानप्रवादपूर्व** - इसमें प्रत्याख्यान का, इसके भेद—प्रभेदों के साथ विस्तार सहित वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त इस नौवें पूर्व में आचार संबंधी नियम भी निर्धारित किये गए थे। इसमें ८४ लाख पद थे।

10. **विद्यानुवादपूर्व**— इसमें अनेक अतिशय शक्तिसम्पन्न विद्याओं एवं उपविद्याओं का उनकी साधना करने की विधि के साथ निरूपण किया गया था। जिनमें अंगुष्ठ प्रश्नादि ७०० लघु विद्याओं, रोहिणी आदि ५०० महाविद्याओं एवं अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन और छिन्न इन आठ महानिमित्तों द्वारा भविष्य जानने की विधि का वर्णन किया गया था। इस पूर्व के पदों की संख्या १ करोड़ १० लाख बताई गई है।

11. **अवन्ध्यपूर्व**— वन्ध्य शब्द का अर्थ है निष्फल अथवा मोघ। इसके विपरीत जो कभी निष्फल न हो अर्थात् जो अमोघ हो उसे अवन्ध्य कहते हैं। इस अवन्ध्यपूर्व में ज्ञान, तप आदि सभी सत्कर्मों को शुभफल देने वाले तथा प्रमाद आदि असत्कर्मों को अशुभ फलदायक बताया गया था। शुभाशुभ कर्मों के फल निश्चित रूप से अमोघ होते हैं, कभी किसी भी दशा में निष्फल नहीं होते। इसलिए इस ग्यारहवें पूर्व का नाम अवन्ध्यपूर्व रखा गया।

इसकी पदसंख्या २६ करोड़ बताई गई है।

दिगम्बर परम्परा में ग्यारहवें पूर्व का नाम “कल्याणवाद पूर्व” माना गया है। दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार कल्याणवाद नामक ग्यारहवें पूर्व में तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों, वासुदेवों और प्रतिवासुदेवों के गर्भावतरणोत्सवों, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन करने वाली सोलह भावनाओं एवं तपस्याओं का तथा चन्द्र व सूर्य के ग्रहण, ग्रह-नक्षत्रों के प्रभाव, शकुन, उनके शुभाशुभ फल आदि का वर्णन किया गया था। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी इस पूर्व की पद संख्या २६ करोड़ ही मानी गई है।

12. प्राणायु पूर्व— इस पूर्व में श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आयु और प्राणों का भेद—प्रभेद सहित वर्णन किया गया था।

दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार इसमें काय-चिकित्सा प्रमुख अष्टांग, आयुर्वेद, भूतिकर्म, जांगुलि, प्रक्रम, साधक आदि आयुर्वेद के भेद, इला, पिंगलादि प्राण, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि तत्वों के अनेक भेद, दश प्राण, द्रव्य, द्रव्यों के उपकार तथा अपकार रूपों का वर्णन किया गया था।

श्वेताम्बरपरम्परा की मान्यतानुसार प्राणायुपूर्व की पद संख्या १ करोड़ ५६ लाख और दिगम्बर मान्यतानुसार १३ करोड़ थी।

13. क्रियाविशालपूर्व— इसमें संगीतशास्त्र, छन्द, अलंकार, पुरुषों की ७२ कलाएं, स्त्रियों की ६४ कलाएं, चौरासी प्रकार के शिल्प, विज्ञान, गर्भाधानादि कायिक क्रियाओं तथा सम्यग्दर्शन क्रिया, मुनीन्द्रवन्दन, नित्यनियम आदि आध्यात्मिक क्रियाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया था। लौकिक एवं लोकोत्तर सभी क्रियाओं का इसमें वर्णन किया जाने के कारण इस पूर्व का कलेवर अति विशाल था।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएं इसकी पद संख्या ९ करोड़ मानती हैं।

14. लोकबिन्दुसार— इसमें लौकिक और पारलौकिक सभी प्रकार की विद्याओं का एवं सम्पूर्ण रूप से ज्ञान निष्पादित कराने वाली सर्वाक्षरसन्निपातादि विशिष्ट लब्धियों का वर्णन था। अक्षर पर बिन्दु की तरह सब प्रकार के ज्ञान का सर्वोत्तम सार इस पूर्व में निहित था। इसी कारण इसे लोकबिन्दुसार अथवा त्रिलोकबिन्दुसार की संज्ञा से अभिहित किया गया है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार इसकी पद संख्या साढ़े बारह करोड़ थी।

उपर्युक्त १४ पूर्वों की वस्तु (ग्रन्थविच्छेदविशेष) संख्या क्रमशः १०, १४, ८, १८, १२, २, १६, ३०, २०, १५, २२, १३, ३० और २५ उल्लिखित है।

चौदह पूर्वों के उपर्युक्त ग्रन्थविच्छेद-वस्तु के अतिरिक्त आदि के ४ पूर्वों की क्रमशः ४, १२, ८ और १० चूलिकाएं (चुल्ल क्षुल्लक) मानी गई हैं। शेष १० पूर्वों के चुल्ल अर्थात् क्षुल्ल नहीं माने गये हैं।

जिस प्रकार पर्वत के शिखर का पर्वत के शेष भाग से सर्वोपरि स्थान होता है उसी प्रकार पूर्वों में चूलिकाओं का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

अनुयोग—अनुयोग नामक विभाग के मूल प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग ये दो भेद बताये गए हैं। प्रथम मूल प्रथमानुयोग में अरहन्तों के पंचकल्याणक का विस्तृत विवरण तथा दूसरे गण्डिकानुयोग में कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों का चरित्र दिया गया था।

दृष्टिवाद के इस चतुर्थ विभाग अनुयोग में इतनी महत्त्वपूर्ण विपुल सामग्री विद्यमान थी कि उसे जैन धर्म का प्राचीन इतिहास अथवा जैन पुराण की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

दिगम्बर परम्परा में इस चतुर्थ विभाग का सामान्य नाम प्रथमानुयोग पाया जाता है।

चूलिका—समवायांग और नन्दीसूत्र में आदि के चार पूर्वों की जो चूलिकाएं बताई गई हैं, उन्हीं चूलिकाओं का दृष्टिवाद के इस पंचम विभाग में समावेश किया गया है। यथा— “से किं तं चूलियाओ? चूलियाओ आइल्लाणं चउण्हं पुव्वाणं चूलिया, सेसाइं अचूलियाइं, से तं चूलियाओ।” पर दिगम्बर परम्परा में जलगत, स्थलगत, मायागत, रूपगत और आकाशगत—ये पांच प्रकार की चूलिकाएं बताई गई हैं।

संदर्भ—

१. दृष्टयो दर्शनानि नया वा उच्यन्ते अभिधीयन्ते पतन्ति वा अवतरन्ति यत्रासौ दृष्टिवादो, दृष्टिपातो वा। प्रवचनपुरुषस्य द्वादशोऽङ्गो —स्थानांग वृत्ति ठा.४.३.१
२. दृष्टिदर्शनं सम्यक्त्वादि, वदनं वादो, दृष्टिनां वादो दृष्टिवादः।
—प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४४
३. गोयमा! जबूढीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसपिणीए ममं एणं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सइ।
—भगवतीसूत्र, शतक २०, उ.८, सूत्र ६७७ सुतागमे, पृ. ८०४
४. दिट्ठिवायस्स णं दस नामभिज्जा पण्णत्ता। तं जहा दिट्ठिवाएइ वा, हेतुवाएइ वा, भूयवाएइ वा, तच्चावाएइ वा, सम्मावाएइ वा, धम्मावाएइ वा, भासाविजएइ वा, पुव्वगएइ वा, अणुओगगएइ वा, सव्वपाणभूयजीवसत्तसुहावहेइ वा।
—स्थानांग सूत्र ठा. १०
५. से किं दिट्ठिवाए? से समासओ पंचविहे पण्णत्ते तं जहा परिकम्मे, सुत्ताइं, पुव्वगए, अणुओगे चूलिया (नन्दी)
६. पढमं उप्पायपुव्वं, तत्थ सव्वदव्वाणं पज्जवाण य उप्पायभावमंगीकाउं पण्णवणा कया। (नन्दीचूर्णि)
७. दस चोहस अट्ठ अट्ठारसेव बारस दुवे य वत्थूणि।
सोलस तीसा वीसा पण्णरस अणुप्पवायम्मि।

विंशतिः का अक्षराणि

- बारस इक्कारसमे बारसमे तेरसेव वत्थूणि ।
तीसा पुण तेरसमे चोइसमे पण्णवीसा उ ॥
८. चत्तारि दुवालस अट्ठ चेव दस चेव चूलवत्थूणि ।
आइत्तण चउण्हं सेसाणं चूलिया नत्थि
—श्रीमन्नन्दीसूत्रम् (पू. हस्तीमल जी म.सा. द्वारा अनूदित) पृ. १४८
९. ते सक्खुवरि ठिया पडिज्जंति य अतो तेसु य पव्वय चूला इव चूला । (नन्दीचूर्णि)

द्वादशांगी की रचना, उसके हास एवं आगम-लेखन

ॐ आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी म.सा.

आचार्यप्रवर श्री हस्तीमल जी महाराज ने नन्दीसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, बृहत्कल्पसूत्र, अंतगडदसासूत्र, प्रश्नव्याकरण आदि सूत्रों का विवेचन किया है। वे प्रसिद्ध आगम-विवेचक रहे। जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग—२ में उन्होंने आगम—विषयक प्रचुर जानकारी का समावेश किया है। उसमें से ही कुछ अंश का संकलन कर यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। वह सामग्री जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग—२, के तीन स्थलों से ली गई है। इसने वर्तमान द्वादशांगी की रचना, उसके हास एवं आगम-लेखन पर अच्छा प्रकाश डाला गया है।

—सम्पादक

वर्तमान द्वादशांगी के रचयिता आर्य सुधर्मा

समस्त जैन परम्परा की मान्यतानुसार तीर्थंकर भगवान् अपनी देशना में जो अर्थ अभिव्यक्त करते हैं, उसको उनके प्रमुख शिष्य गणधर शासन के हितार्थ अपनी शैली में सूत्रबद्ध करते हैं। वे ही बारह अंग प्रत्येक तीर्थंकर के शासनकाल में द्वादशांगी-सूत्र के रूप में प्रचलित एवं मान्य होते हैं। द्वादशांगी का गणपिटक के नाम से भी उल्लेख किया गया है। सूत्र गणधर-कथित या प्रत्येकबुद्ध-कथित होते हैं; वैसे श्रुतकेवलि-कथित और अभिन्न दशपूर्वी-कथित भी होते हैं।^१

यद्यपि विभिन्न तीर्थंकरों के धर्मशासन में तीर्थस्थापना के काल में ही गणधरों द्वारा द्वादशांगी की नये सिरे से रचना की जाती है तथापि उन सब तीर्थंकरों के उपदेशों में जीवादि मूल भावों की समानता एवं एकरूपता रहती है, क्योंकि अर्थ रूप से जैनागमों को अनादि-अनंत अर्थात् शाश्वत माना गया है। जैसा कि नन्दीसूत्र के ५८वें सूत्र में तथा समवायांगसूत्र के १८५वें सूत्र में कहा गया है—

“इच्चेइयं दुवालसंगं गणपिडगं न कयाई नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविसइ, गुविं च भवइ य भविसइ य, धुवे, निअए, सासए, अक्खए, अब्वए, अवट्ठए निच्चे ।।”

समय-समय पर अंगशास्त्रों का विच्छेद होने और तीर्थंकरकाल में नवीन रचना के कारण इन्हें सादि और सपर्यवसित भी माना गया है।^२ इस प्रकार द्वादशांगी के शाश्वत और अशाश्वत दोनों ही रूप शास्त्रों में प्रतिपादित किये गये हैं। इस मान्यता के अनुसार प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल के अन्तिम चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा चतुर्विध तीर्थ की स्थापना के दिन जो प्रथम उपदेश इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों को दिया गया, भगवान को उस वाणी को अपने साथी अन्य सभी गणधरों की तरह आर्य सुधर्मा ने भी द्वादशांगी के रूप में सूत्रबद्ध किया।

ग्यारह गणधरों द्वारा पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से ग्रथित बारह ही

अंगों में शब्दों और शैली की न्यूनधिक विविधता होने पर भी उनके मूल भाव तो पूर्णरूपेण वही थे जो भगवान महावीर ने प्रकट किये।

भगवान महावीर के ११ गणधरों की वाचनाओं की अपेक्षा से ९ गण धे और उनकी पृथक्-पृथक् ९ वाचनाएँ थीं। ११ में से ९ गणधर तो भगवान महावीर के निर्वाण से पूर्व ही मुक्त हो गये। केवल इन्द्रभूति और आर्य सुधर्मा ये दो ही गणधर विद्यमान रहे। उनमें भी इन्द्रभूति गौतम तो प्रभु की निर्वाणरात्रि में ही केवली बन गये और १२ वर्ष पश्चात् आर्य सुधर्मा को अपना गण सौंप कर निर्वाण को प्राप्त हुए। अतः आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष दशों गणधरों की शिष्य-परम्परा और वाचनाएँ उनके निर्वाण के साथ ही समाप्त हो गई, आगे नहीं चल सकीं।

ऐसी अवस्था में भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनके धर्मतीर्थ के उत्तराधिकार के साथ-साथ भगवान के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार भी आर्य सुधर्मा को प्राप्त हुआ और केवल आर्य सुधर्मा की ही अंगवाचना प्रचलित रही। बारहवें अंग दृष्टिवाद का आज से बहुत समय पहले विच्छेद हो चुका है। आज जो एकादशांगी उपलब्ध है, वह आर्यसुधर्मा की ही वाचना है। इस तथ्य की पुष्टि करने वाले अनेक प्रमाण आगमों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आचारांग सूत्र के उपोद्घातात्मक प्रथम वाक्य में—“सुर्य मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं।” अर्थात्— हे आयुष्मन् (जंबू) मैंने सुना है, उन भगवान महावीर ने इस प्रकार कहा है.....। इस वाक्य रचना से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि इस वाक्य का उच्चारण करने वाला गुरु अपने शिष्य से वही कह रहा है जो स्वयं उसने भगवान महावीर के मुखारविन्द से सुना था।

आचारांग सूत्र की ही तरह समवायांग, स्थानांग, व्याख्या-प्रज्ञप्ति आदि अंगसूत्रों में तथा उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि अंगबाह्य श्रुत में भी आर्य सुधर्मा द्वारा विवेच्य विषय का निरूपण— “सुर्य मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं” इसी प्रकार की शब्दावली से किया गया है।

अनुत्तरौपपातिक सूत्र, ज्ञाताधर्म कथा आदि के आरंभ में और भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है:—

“.....तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नयरे, अज्ज सुहम्मस्स समोसरणं.....परिसा पडिगया।।2।।

जंबू जाव पज्जुवासइ एवं वयासी जइणं भंते! समणेणं जाव संपत्तेणं अट्ठमस्स अंगस्स अंतगड्ढदसाणं अयमट्ठे पण्णत्ते, नवमस्स णं भंते! अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं समणेणं जाव संपत्तेणं के अट्ठे पण्णत्ते।।3।।

तएणं से सुहम्मे अणगारे जंबू अणगारं एवं वयासी— एवं खलु जंबू! समणेणं जाव संपत्तेणं नवमस्स अंगस्स अणुत्तरोववाइयदसाणं तिण्णि वग्गा पण्णत्ता।।4।।”

आर्य जम्बू ने अपने गुरु आर्य सुधर्मा से समय-समय पर अनेक प्रश्न प्रस्तुत करते हुए पढ़ा— “भगवन! श्रमण भगवान महावीर ने अमक

अंग का क्या अर्थ बताया ?”

अपने शिष्य जम्बू के प्रश्न के उत्तर में उन अंगों का अर्थ बताने का उपक्रम करते हुए आर्य सुधर्मा कहते हैं— “आयुष्मन् जंबू! अमुक अंग का जो अर्थ भगवान् महावीर ने फरमाया, वह मैंने स्वयं ने सुना है। उन प्रभु ने अमुक अंग का, अमुक अध्ययन का, अमुक वर्ग का यह अर्थ फरमाया है.....”

अपने शिष्य जम्बू को आगमों का ज्ञान कराने की उपरिबर्णित परिपाटी सुखविपाक, दुःखविपाक आदि अनेक सूत्रों में भी परिलक्षित होती है।

नायाधम्मकहाओ के प्रारम्भिक पाठ से भी यही प्रमाणित होता है कि वर्तमान काल में उपलब्ध अंगशास्त्र आर्य सुधर्मा द्वारा गुम्फित किये गये हैं।

आगमों में उल्लिखित— “उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—” इस वाक्य से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि इन आगमों में जो कुछ कहा जा रहा है उसमें किञ्चित्मात्र भी स्वकल्पित नहीं, अपितु पूर्णरूपेण वही शब्दबद्ध किया गया है जो श्रमण भगवान् महावीर ने उपदेश देते समय अर्थतः श्रीमुख से फरमाया था।

केवल धवला को छोड़कर सभी प्राचीन दिगम्बर ग्रन्थों में भी यही मान्यता अभिव्यक्त की गई है कि अर्थ रूप में भगवान् महावीर ने उपदेश दिया और उसे सभी गणधरों ने द्वादशांगी के रूप में ग्रथित किया। आचार्य पूज्यपाद देवनादी ने विक्रम की छठी शताब्दी में तत्त्वार्थ पर सर्वार्थसिद्धि की रचना की, उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि परम अचिन्त्य केवलज्ञान की विभूति से विभूषित सर्वज्ञ परमर्षि तीर्थंकर ने अर्थरूप से आगमों का उपदेश दिया। उन तीर्थंकर भगवान् के अतिशय बुद्धिसम्पन्न एवं श्रुतकेवली प्रमुख शिष्य गणधरों ने अंग-पूर्व लक्षण वाले आगमों (द्वादशांगी) की रचना की।

इसी प्रकार आचार्य अकलंक देव (वि. ८वीं शती) ने तत्त्वार्थ पर अपनी राजवार्तिक टीका में^१ और आचार्य विद्यानन्द^२ (वि. ९वीं शती) ने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक में इसी मान्यता को अभिव्यक्त किया है कि तीर्थंकर आगमों का अर्थतः उपदेश देते हैं और उसे सभी गणधर द्वादशांगी के रूप में शब्दतः ग्रथित करते हैं।

धवला में यह मन्तव्य दिया गया है कि आर्य सुधर्मा को अंगज्ञान इन्द्रभूति गौतम ने दिया। परन्तु श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के प्राचीन ग्रन्थों में कहीं इस प्रकार का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि धवलाकार की यह अपनी स्वयं की नवीन मान्यता है।

श्वेताम्बर आचार्यों की ही तरह धवलाकार के अतिरिक्त अन्य सभी

प्राचीन दिगम्बर आचार्यों की यह मान्यता है कि भगवान महावीर ने सभी गणधरों को अर्थात्: द्वादशांगी का उपदेश दिया। जयध्वला में जब यह स्पष्टतः उल्लेख किया गया है कि आर्य सुधर्मा ने अपने उत्तराधिकारी शिष्य जम्बूकुमार के साथ-साथ अन्य अनेक आचार्यों को द्वादशांगी की वाचना दी थी तो यह कल्पना ध्वलाकार ने किस आधार पर की कि श्रमण भगवान महावीर ने अर्थात्: द्वादशांगी का उपदेश सुधर्मादि अन्य गणधरों को न देकर केवल इन्द्रभूति गौतम को ही दिया?

ऐसी स्थिति में अपनी परंपरा के प्राचीन आचार्यों की मान्यता के विपरीत ध्वलाकार ने जो यह नया मन्तव्य रखा है कि आर्य सुधर्मा को द्वादशांगी का ज्ञान भगवान् महावीर ने नहीं, अपितु इन्द्रभूति गौतम ने दिया, इसका औचित्य विचारणीय है।

ऊपर उल्लिखित प्रमाणों से यह निर्विवादरूपेण सिद्ध हो जाता है कि अन्य गणधरों के समान आर्य सुधर्मा ने भी भगवान महावीर के उपदेश के आधार पर द्वादशांगी की रचना की। अन्य दश गणधर आर्य सुधर्मा के निर्वाण से पूर्व ही अपने-अपने गण उन्हें सम्हला कर निर्वाण प्राप्त कर चुके थे। अतः आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही प्रचलित रही और आज वर्तमान में जो एकादशांगी प्रचलित है वह आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित है। शेष गणधरों द्वारा ग्रथित द्वादशांगी वीर निर्वाण के कुछ ही वर्षों पश्चात् विलुप्त हो गई।

द्वादशांगी का हास एवं विच्छेद

जिस प्रकार आज की श्रमण-परम्परा आर्य सुधर्मा की शिष्य परम्परा है उसी प्रकार आज की श्रुतपरम्परा भी आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी ही है।

भगवान महावीर ने विकट भवाटवी के उस पार पहुँचाने वाला, जन्म, जरा, मृत्यु के अनवरत चक्र से परित्राण करने वाला, अनिर्वचनीय शाश्वत सुखधाम मोक्ष का जो प्रशस्त पथ प्रदर्शित किया था, उस मुक्तिपथ पर अग्रसर होने वाले असंख्य साधकों को आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी प्रकाशदीप की तरह २५०० वर्ष से आज तक पथ प्रदर्शन करती आ रही है। इस ढाई हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में भीषण द्वादशवार्षिक दुष्कालों जैसे प्राकृतिक प्रकोपों, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक क्रान्तियों आदि के कुप्रभावों से आर्य सुधर्मा द्वारा ग्रथित द्वादशांगी भी पूर्णतः अछूती नहीं रह पाई। इन सबके अतिरिक्त कालप्रभाव, बुद्धिमान्ध, प्रमाद, शिथिलाचार, सम्प्रदायभेद, व्यामोह आदि का घातक दुष्प्रभाव भी द्वादशांगी पर पड़ा। यद्यपि आगमनिष्णात आचार्यों, स्वाध्यायनिरत श्रमण-श्रमणियों एवं जिनशासन के हितार्थ अपना सर्वस्व तक न्यौच्छाकर कर देने वाले सद्गृहस्थों ने श्रुतशास्त्रों को अक्षुण्ण और सुरक्षित बनाये रखने के लिये सामूहिक तथा

व्यक्तिगत रूप से समय—समय पर प्रयास किये, अनेक बार श्रमण-श्रमणी वर्ग और संघ ने एकत्रित हो आगम— वाचनाएँ कीं, किन्तु फिर भी काल अपनी काली छाया फैलाने में येन केन प्रकारेण सफल होता ही गया। परिणामतः उपरिवर्णित दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों के कारण द्वादशांगी का समय-समय पर बड़ा हास हुआ।

द्वादशांगी का कितना भाग आज हमारे पास विद्यमान है और कितना भाग हम अब तक खो चुके हैं, इस प्रकार का विवरण प्रस्तुत करने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि मूलतः अविच्छिन्नावस्था में द्वादशांगी का आकार—प्रकार कितना विशाल था। इस दृष्टि से आर्य सुधर्मा के समय में द्वादशांगी का जिस प्रकार का आकार—प्रकार था, उसकी तालिका यहाँ प्रस्तुत की जा रही है।

श्वेताम्बर परम्परानुसार द्वादशांगी की पदसंख्या

अंग का नाम	समवायांग के अनुसार	नंदीसूत्र	सम.वृत्ति	नंदी वृत्ति
१. आचारांग	१८०००	"	"	"
२. सूत्रकृतांग	३६०००	"	"	"
३. स्थानांग	७२०००	"	"	"
४. समवायांग	१४४०००	"	"	"
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति	८४०००	२८८०००	८४०००	२८८०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	संख्यात हजार	संख्यात हजार	५७६०००	५७६०००
७. उपासकदशा	"	"	११५२०००	११५२०००
८. अंतकृदशा	"	"	२३०४०००	२३०४०००
९. अनुत्तरोपपातिक	"	"	४६०८०००	४६०८०००
१०. प्रश्नव्याकरण	"	"	९२१६०००	९२१६०००
११. विपाकसूत्र	"	"	१८४३२०००	१८४३२०००
१२. दृष्टिवाद	"	"	—	—

दिगम्बर परम्परानुसार¹⁰ द्वादशांगी की पद, श्लोक एवं अक्षर-संख्या

अंग का नाम	पद संख्या	श्लोक संख्या	अक्षर संख्या
१. आचारांग	१८०००	९२,२५५,४३१,८७०००	२९२,२६५,४३१,८७०००
२. सूत्रकृत	३६०००	१८,३५२,८४६,३६४०००	५८,८५,३९०,८३९,८०००
३. स्थानांग	७२०००	२१,८५७,५४२,३०००	६८,६५,०८५,३९,५०००
४. समवायांग	१,४४,०००	८,७७,८५,७७,७२,०००	२,६८,९२,५२,६२,३३,२०००
५. विपाकप्रज्ञप्ति	८४,०००	२२,६,४८,२६,३७,०००	७५,२७,४२,४२,८६,४०००
६. ज्ञाताधर्मकथा	५५५,०००	२८,६०,५२,८६,५५,३०००	९६,९६,५६२,८५,७२,०००
७. उपासकाध्ययन	१,१७,०००	५,९७,७७,५००,७२,५०००	१,९१,७७,५००,७२,५०००
८. अंतकृदशांग	२,३०,४००	२१,८५,३७,३१,८८,५२,०००	७८,०५,८८,६०,७७,३३,५००
९. अनुत्तरैत्पाद	४,६०,८००	४७,२,२१,७८,४२,४६,०००	१,५१,२३,७७,८९,५६,७००
१०. प्रश्नव्याकरण	९,२१,६००	४७,२,२१,७८,४२,४६,०००	१,५१,२३,७७,८९,५६,७००

११. विष्णुसूत्रांग	१८४००००	५४००१७७०३५६००००	३००८०८६५१३५०००००
१२. दृष्टिवादंग	१०८६८५६००५	५५५२५८०१८७३९४२७१०७	१७७६८०५६५९९६६१६६७४४०

पूर्वों की पदसंख्या

पूर्वनाम	श्वेताम्बर परम्परानुसार	दिगम्बर परम्परानुसार
१. उत्पादपूर्व	एक करोड़ पद	एक करोड़ पद
२. अग्रायणीय	छियानवे लाख	छियानवे लाख
३. वीर्यप्रवाद	सत्तर लाख	सत्तर लाख
४. अस्तिनास्ति प्रवाद	साठ लाख	साठ लाख
५. ज्ञानप्रवाद	एक कम एक करोड़	एक कम एक करोड़ पद
६. सत्यप्रवाद	एक करोड़ छः पद	एक करोड़ छः पद
७. आत्मप्रवाद	छब्बीस करोड़ पद	छब्बीस करोड़ पद
८. कर्मप्रवाद	१ करोड़ अस्सी हजार	१ करोड़ ८० लाख पद
९. प्रत्याख्यान पद	८४ लाख पद	८४ लाख पद
१०. विद्यानुवाद	१ करोड़ १० लाख पद	१ करोड़ १० लाख पद
११. अवध्य	२६ करोड़ पद	२६ करोड़ पद ^{११}
१२. प्राणायु	१ करोड़ ५६ लाख पद	१३ करोड़ पद ^{१२}
१३. क्रियाविशाल	९ करोड़ पद	९ करोड़ पद
१४. लोकबिन्दुसार	साढ़े बारह करोड़ पद	साढ़े बारह करोड़ पद

उपर्युल्लिखित तालिकाओं में अंकित दृष्टिवाद और चतुर्दश पूर्वों की पदसंख्या से यह स्पष्टतः प्रकट होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं के आगमों एवं आगम संबंधी प्रामाणिक ग्रन्थों में दृष्टिवाद की पदसंख्या संख्यात मानी गई है। शीलकाचार्य ने सूत्रकृतांग की टीका में पूर्व को अनन्तार्थ युक्त बताते हुए लिखा है—

“पूर्व अनन्त अर्थ वाला होता है और उसमें तीर्य का प्रतिपादन किया जाता है। अतः उसकी अनन्तार्थता समझनी चाहिए।”

अपने इस कथन की पुष्टि में उन्होंने दो गाथाएँ प्रस्तुत करते हुए लिखा है— “समस्त नदियों के बालुकणों की गणना की जाय अथवा सभी समुद्रों के पानी को हथेली में एकत्रित कर उसके जलकणों की गणना की जाय तो उन बालुकणों तथा जलकणों की संख्या से भी अधिक अर्थ एक पूर्व का होगा।

इस प्रकार पूर्व के अर्थ की अनन्तता होने के कारण वीर्य की भी पूर्वार्थ के समान अनन्तता (सिद्ध) होती है।^{१३}

नदी बालावबोध में प्रत्येक पूर्व के लेखन के लिए आवश्यक मसि की जिस अनुल मात्रा का उल्लेख किया गया है उससे पूर्वों के संख्यात पद और अनन्तार्थयुक्त होने का आभास होता है।^{१४} ये तथ्य यही प्रकट करते हैं कि पूर्वों की पदसंख्या असीम अर्थात् उत्कृष्टसंख्येय पदपरिमाण की थी।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि द्वादशांगी का पूर्वकाल में बहुत बड़ा पद परिमाण था। कालजन्य मन्दमेधा आदि कारणों से उसका निरन्तर ह्रास होता रहा। आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को कभी गर्व न करने का उपदेश देने हुए जो धूलि की राशि का दृष्टांत दिया उस दृष्टांत से सहज ही यह समझ में आ जाता है कि वस्तुतः द्वादशांगी का ह्रास किस प्रकार हुआ। कालकाचार्य ने अपनी मुट्ठी में धूलि भर कर उसे एक स्थान पर रखा। फिर आचार्य कालक ने अपने प्रशिष्य सागर को संबोधित करते हुए कहा— “वत्स! जिस प्रकार यह धूलि की राशि इदा एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और तीसरे से चौथे स्थान पर रखने के कारण निरन्तर कम होती गई है, ठीक इसी प्रकार तीर्थंकर भगवान महावीर से गणधरों को जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त हुआ था वह गणधरों से हमारे पूर्ववर्ती अनेक आचार्यों को, उनसे उनके शिष्यों और प्रशिष्यों आदि को प्राप्त हुआ, वह द्वादशांगी का ज्ञान एक स्थान से दूसरे, दूसरे से तीसरे और इसी क्रम में अनेक स्थानों में आते—आते निरन्तर ह्रास को ही प्राप्त होता चला आया है।” ३४ अतिशय, ३५ वाणी के गुण और अनन्त ज्ञान-दर्शन—चारित्र के धारक प्रभु महावीर ने अपनी देशना में अनन्त भावभंगियों की अनिर्वचनीय एवं अनुपम तरंगों से कल्लोलित जिस श्रुतगंगा को प्रवाहित किया, उसे द्वादशांगी के रूप में आबद्ध करने का गणधरों ने यथाशक्ति पूरा प्रयास किया, पर वे उसे निश्शेष रूप से तो आबद्ध नहीं कर पाये। नदनन्तर आर्य सुधर्मा से आर्य जम्बू ने, जम्बू से आर्य प्रभव ने और आगे चलकर क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे आचार्यों ने अपने—अपने गुरु से जो द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त किया उसमें एक स्थान से दूसरे स्थान में आते—आते द्वादशांगी के अर्थ के कितनी बड़ी मात्रा में पर्याय निकल गए, छूट गए अथवा विलीन हो गए, इसकी कल्पना करना भी कठिन है।

आर्य भद्रबाहु के पश्चात् (वी.नि.सं. १७०) अन्तिम चार पूर्व अर्थतः और आर्य स्थूलभद्र के पश्चात् (वी.नि.सं. २१५) शब्दतः विलुप्त हो गए।

द्वादशांगी के किस—किस अंश का किन—किन आचार्यों के समय में ह्रास हुआ यह यथास्थान बताने का प्रयास किया जायेगा। आर्य सुधर्मा से प्राप्त द्वादशांगी में से आज हमारे पास कितना अंश अवशिष्ट रह गया, यहाँ केवल यही बताने के लिए एक तालिका दी जा रही है, जो इस प्रकार है—

अंग का नाम	मूल पद संख्या	उपलब्ध पाठ (श्लोक प्रमाण)
अःचारांग	१८०००	२५०० महापरिज्ञा नामक ७वाँ अध्ययन विलुप्त हो चुका है।
सूत्रकृतांग	३६०००	२१००
स्थानांग	७२०००	३७७०

समवायांग	१४४०००	१६६७
व्याख्याप्रज्ञप्ति	२८८००० (नदीसूत्र) ^{२०} ८४००० (समवायांग) ^{१६}	१५७५२
ज्ञानधर्मकथा	समवायांग और नदी ५५०० इस अंग के अनेक के अनुसार संख्येय कथानक वर्तमान में उपलब्ध हजार पद और इन दोनों नहीं है। अंगों की वृत्ति के अनुसार ५७६०००	
उपासकदशा	संख्यात हजार पद सम. एवं नदी के अनुसार पर दोनों सूत्रों की वृत्ति के अनुसार ११५२०००	८१२
अंतकृदशा	संख्यात हजार पद, सम. नदी वृत्ति के अनुसार २३०४०००	९००
अनुत्तरोपपातिकदशा	संख्यात हजार पद, सम. नदी वृ. के अनुसार ४६०८०००	१९२
प्रश्नव्याकरण	संख्यात हजार पद, सम. एवं नदी वृ. के अनुसार ९२१६०००	१३०० समवायांग और नदी सूत्र में प्रश्नव्याकरण सूत्र का जो परिचय दिया गया है, वह उपलब्ध प्रश्नव्याकरण में विद्यमान नहीं है।
विपाक सूत्र	संख्यात हजार पद, सम. और नदी वृ. के अनुसार १८४३२०००	१२१६
दृष्टिवाद	संख्यात हजार पद	पूर्वो सहित बारहवां अंग वीर निर्वाण सं. १००० में विच्छिन्न हो गया।

वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशांगी का बहुत बड़ा अंश कालप्रभाव से विलुप्त हो चुका है अथवा विच्छिन्न-विकीर्ण हो चुका है। इस क्रमिक हास के उपरान्त भी द्वादशांगी का जितना भाग आज उपलब्ध है वह अनमोल निधि है और साधना पथ में निरत गुमुक्षुओं के लिए बराबर मार्गदर्शन करता आ रहा है।

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता है कि दुःश्रमा नामक प्रवर्तमान पंचम आरक के अन्तिम दिन पूर्वाह्न काल तक भगवान् महावीर का धर्मशासन और

महावीर वाणी द्वादशांगी अंशतः विद्यमान रह कर गव्यों का उद्धार करते रहेंगे।

तिलोगाली में अनुक्रम से यह विवरण दिया हुआ है कि किस—किस अंग का किस—किस समय में विच्छेद होगा।^{११५} श्रुतविच्छेद के संबंध में दो प्रकार के अभिमत रहे हैं, इस प्रकार का आभास नन्दीसूत्र की चूर्णि से स्पष्टतः प्रकट होता है। नन्दीसूत्र-थेरावली की ३२ वीं गाथा की व्याख्या में नन्दीचूर्णिकार ने इन दोनों प्रकार के मन्तव्यों का उल्लेख करते हुए लिखा है— “बारह वर्षीय भीषण दुष्काल के समय आहार हेतु इधर—उधर भ्रमण करते रहने के फलस्वरूप अध्ययन एवं पुनरावर्तन आदि के अभाव में श्रुतशास्त्र का ज्ञान नष्ट हो गया। पुनः सुभिक्ष होने पर स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में श्रमणसंघ ने एकत्रित हो, जिस-जिस साधु को आगमों का जो जो अंश स्मरण था, उसे सुन-सुन कर सम्पूर्ण कालिक श्रुत को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित किया। वह वाचना मथुरा नगरी में हुई इसलिए उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलाचार्य सम्मत थी अतः स्कन्दिलीय अनुयोग के नाम से पुकारी जाती है। दूसरे (आचार्य) कहते हैं— सूत्र नष्ट नहीं हुए, उस दुर्भिक्षकाल में जो प्रधान—प्रधान अनुयोगधर (श्रुतधर) थे, उनका निधन हो गया। एक स्कन्दिलाचार्य बचे रहे। उन्होंने मथुरा में साधुओं को पुनः शास्त्रों की वाचना-शिक्षा दी, अतः उसे माथुरी वाचना और स्कन्दिलीय अनुयोग कहा जाता है।”^{११६}

नन्दीचूर्णि में जो उक्त दो अभिमतों का उल्लेख किया गया है, उन दोनों प्रकार की मान्यताओं को यदि वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाय तो वस्तुतः पहली मान्यता ही तथ्यपूर्ण और उचित ठहरती है। “सूत्र नष्ट नहीं हुए”— इस प्रकार की जो दूसरी मान्यता अभिव्यक्त की गई है वह तथ्यों पर आधारित प्रतीत नहीं होती। द्वादशांगी की प्रारम्भिक अवस्था के पद-परिमाण और वर्तमान में उपलब्ध इसके पाठ की तालिका इसका पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। इस संबंध में विशेष चर्चा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वर्तमान में उपलब्ध द्वादशांगी का पाठ वल्लभी में हुई अन्तिम वाचना में देवर्द्धि क्षमाश्रमण आदि आचार्यों द्वारा वीर निर्वाण सं. 980 में निर्धारित किया गया था। इस अन्तिम आगम वाचना से १५३ वर्ष पूर्व वीर नि.सं. ८२७ में, लगभग एक ही समय में दो विभिन्न स्थानों पर दो आगम वाचनाएँ, पहली आगम वाचना आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में मथुरा में और दूसरी आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में, वल्लभी में हो चुकी थीं। उपरिबर्णित द्वितीय मान्यता के अनुसार द्वादशांगी का मूलस्वरूप ८२७ वर्षों तक यथावत् बना रहा हो और केवल १५३ वर्षों की अवधि में ही इतने स्वल्प परिमाण में अवशिष्ट रह गया हो, यह विचार करने पर स्वीकार करने योग्य प्रतीत नहीं होता।

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के जीवनकाल में वीर नि.सं. १६० के आसपास की अवधि में हुई प्रथम आगम-वाचना के समय द्वादशांगी का जितना हास हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो हमें इस कट्ट सत्य को स्वीकार करना होगा कि वी. नि. सं. ८२७ में हुई स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय तक द्वादशांगी का प्रचुर मात्रा में हास हो चुका था तथा एकादशांगी का आज जो परिमाण उपलब्ध है, उससे कोई बहुत अधिक परिमाण स्कन्दिलीय और नागार्जुनीय वाचनाओं के समय में नहीं रहा होगा।

इन सब तथ्यों पर विचार करने के पश्चात् पहले प्रश्न का यही वास्तविक उत्तर प्रतीत होता है कि कालप्रभाव, प्राकृतिक प्रकोपों एवं अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण प्रमुख सूत्रधरों के स्वर्गगमन के साथ-साथ श्रुत का भी शनैः शनैः हास होना गया।

वल्लभी-परिषद् का आगम-लेखन

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय की यह परम्परागत एवं सर्वसम्मत मान्यता है कि वर्तमान में उपलब्ध आगम देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण द्वारा लिपिबद्ध करवाये गये थे। लेखनकला का प्रारम्भ भगवान ऋषभदेव के समय से मानते हुए भी यह माना जाता है कि आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण से पूर्व आगमों का व्यवस्थित लेखन नहीं किया गया। पुरातन परम्परा में शास्त्रवाणी को परमपवित्र मानने के कारण उसकी पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये आगमों को श्रुत-परम्परा से कण्ठाग्र रखने में ही श्रेय समझा जाता रहा। पूर्वकाल में इसीलिये शास्त्रों का गुप्तकों अथवा पत्तों पर आलेखन नहीं किया गया। यही कारण है कि तब तक श्रुत नाम से ही शास्त्रों का उल्लेख किया जाता रहा।

जैन परम्परा ही नहीं वैदिक परम्परा में भी यही धारणा प्रचलित रही और उसी के फलस्वरूप वेद वेदांगादि शास्त्रों को श्रुति के नाम से संबोधित किया जाता रहा। जैन श्रमणों की अनारम्भी मनोवृत्ति ने यह भी अनुभव किया कि शास्त्र-लेखन के पीछे बहुत सी खटपटें करनी होंगी। कागज, कलम, मसी और मसिपात्र आदि लाने, रखने तथा सम्हालने में आरम्भ एवं प्रमाद की वृद्धि होगी। ऐसा सोच कर ही वे लेखन की प्रवृत्ति से बचते रहे। पर जब देखा कि शिष्यवर्ग की धारणा-शक्ति उत्तरोत्तर क्षीण होती चली जा रही है, शास्त्रीय पाठों की स्मृति के अभाव से शास्त्रों के पाठ-परावर्तन में भी आलस्य तथा संकोच होता जा रहा है, बिना लिखे शास्त्रों को सुरक्षित नहीं रखा जा सकेगा, शास्त्रों के न रहने से ज्ञान नहीं रहेगा और ज्ञान के अभाव में अधिकांश जीवन विषय, कषाय एवं प्रमाद में व्यर्थ ही चला जायेगा, शास्त्र-लेखन के द्वारा पठन-पाठन के माध्यम से जीवन में एकाग्रता

बढाते हुए प्रमाद को घटाया जा सकेगा और ज्ञान-परम्परा को भी शताब्दियों तक अबाध रूप से सुरक्षित रखा जा सकेगा, तब शास्त्रों का लेखन सम्पन्न किया गया ।

इस प्रकार संघ को ज्ञानहानि और प्रमाद से बचाने के लिये संतों ने शास्त्रों को लिपिबद्ध करने का निश्चय किया। जैन परम्परानुसार आर्यरक्षित एवं आर्य स्कन्दिल के समय में कुछ शास्त्रीय भागों का लेखन प्रारम्भ हुआ माना गया है। किन्तु आगमों का सुव्यवस्थित सम्पूर्ण लेखन तो आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी में ही सम्पन्न किया जाना माना जाता है।

देवर्द्धि के समय में कितने व कौन-कौन से शास्त्र लिपिबद्ध कर लिये गये एवं उनमें से आज कितने उसी रूप में विद्यमान हैं, प्रमाणाभाव में यह नहीं कहा जा सकता। “आगम पुत्थयलिहिओ” इस परम्परागत अनुश्रुति में सामान्य रूप से आगम पुस्तक रूप में लिखे गये— इतना ही कहा गया है। संख्या का कहीं कोई उल्लेख तक भी उपलब्ध नहीं होता। अर्वाचीन पुस्तकों में ८४ आगम और अनेक ग्रन्थों के पुस्तकारूढ करने का उल्लेख किया गया है। नन्दीसूत्र में कालिक और उत्कालिक श्रुत का परिचय देते हुए कुछ नामावली प्रस्तुत की है। बहुत संभव है देवर्द्धि क्षमाश्रमण के समय में वे श्रुत विद्यमान हों और उनमें से अधिकांश सूत्रों का देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण ने लेखन करवा लिया हो। नन्दीसूत्र में अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य भेद करके अंगप्रविष्ट में १२ अंगों का निरूपण किया गया है। अंगबाह्य को दो भागों में विभक्त किया गया है— १. आवश्यक एवं २. आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक— १. सामाडयं २. चउवीसत्थओ ३. वंदणयं ४. पडिक्कमणं ५. काउस्सगो ६. पच्चक्खाणं। आवश्यक व्यतिरिक्त— १. कालिक २. उत्कालिक। पूर्ण नामावली इस प्रकार है—

अंगप्रविष्ट (12 अंग)

- | | |
|----------------------|---------------------------|
| १. आयारो | २. सुयगडो |
| ३. ठाण | ४. समवाओ |
| ५. वियाहपण्णती | ६. नायाधम्मकहाओ |
| ७. उवासगदसाओ | ८. अंतगडदसाओ |
| ९. अणुत्तरोववाइयदसाओ | १०. पण्हावागरणाइं |
| ११. विवाग सुयं | १२. दिट्ठिवाओ (विच्छिन्न) |

उत्कालिक श्रुत

- | | |
|------------------|-------------------|
| १. दसवेयालियं | २. कप्पियाकप्पियं |
| ३. चुल्लकप्पसुयं | ४. महाकप्पसुयं |
| ५. उववाइय | ६. रायपसेणइय |
| ७. जीवाभिगम | ८. पन्नवणा |

९. महापन्नवणा	१०. पमायप्पमाय
११. नंदी	१२. अणुओगदाराई
१३. देविन्दथव	१४. तंदुलवेयालिय
१५. चदाविज्जय	१६. सूरपण्णत्ति
१७. पोरिसिमंडल	१८. मंडलपवेस
१९. विज्जाचरणविणिच्छओ	२०. गणिविज्जा
२१. झण्णाविभत्ती	२२. मरणाविभत्ती
२३. आयविसोही	२४. वीयरगसुयं
२५. सल्लेहणासुयं	२६. विहारकप्पो
२७. चरणविहि	२८. आउरपच्चक्खाण
२९. महापन्नकटाण आदि	

कालिक श्रुत

१. उन्नरञ्जयणाइ	२. दसाओ
३. कप्पो	४. ववहारो
५. निसीहं	६. महानिसीहं
७. इसिभासियाइ	८. जंबूदीवपण्णत्ती
९. दोवसागरपण्णत्ती	१०. चंदपण्णत्ती
११. खुडियाविमाणपविभत्ती	१२. महल्लियाविमाणपविभत्ती
१३. अंगचूलिया	१४. वगचूलिया
१५. विवाहचूलिया	१६. अरुणोववाए
१७. वरुणोववाए	१८. गरुलोववाए
१९. धरणोववाए	२०. वेसमणोववाए
२१. वेल्धरोववाए	२२. देविन्दोववाए
२३. उट्ठाणसुयं	२४. समुट्ठाणसुयं
२५. नागपरिवावणियाओ	२६. निरयावलियाओ
२७. कप्पिया	२८. कप्पवडंसिया
२९. पुप्फियाओ	३०. पुप्फचूलियाओ
३१. वणिहदसाओ	

इस प्रकार कुल ७८ श्रुत बताये गये हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा द्वारा वर्तमान में ४५ आगम माने जाते हैं, पर स्थानकवासी और तेरापन्थ परम्परा में ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ४ छेद और १ आवश्यक इस प्रकार ३२ शास्त्रों को प्रामाणिक मानते हैं। ४५ सूत्रों की संख्या इस प्रकार है—

11 अंग

१. आचारांग	२. सूत्रकृतांग
३. स्थानांग	४. समवायांग
५. भगवती	६. ज्ञातोधर्मकथांग
७. उपासकदशांग	८. अंतकृतदशांग

९. अनुत्तरौपपातिकदशांग
११. विपाक श्रुत

१०. प्रश्नव्याकरण

12 उपांग

१. औपपातिक
३. जीवाभिमग
५. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
७. सूर्यप्रज्ञप्ति
९. कल्पावर्तसिका
११. पुष्पचूलिका

२. राजप्रश्नीय
४. प्रज्ञापना
६. चन्द्रप्रज्ञप्ति
८. कालिका
१०. पुष्पिका
१२. वृष्णिदशा

10 प्रकीर्णक

१. चतुश्शरण प्रकीर्णक
३. भक्त प्रत्याख्यान
५. तंदुल वैचारिक
७. देवेन्द्रस्तव
९. महाप्रत्याख्यान

२. आतुर प्रत्याख्यान
४. संस्तार प्रकीर्णक
६. चन्द्रविद्यक / चन्द्रवेध्यक
८. गणिविद्या
१०. गरणरामाधि

6 छेदसूत्र

१. निशीथ
३. बृहत्कल्प
५. महानिशीथ

२. व्यवहार
४. दशाश्रुतस्कन्ध
६. जीतकल्प

4 मूलसूत्र

१. दशवैकालिक सूत्र
३. उत्तराध्ययन

२. अनुयोगद्वार
४. नन्दीसूत्र

2 चूलिका

१. ओषनिर्युक्ति

२. पिण्डनिर्युक्ति

कुछ लेखक नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्र को चूलिका मानते हैं और ओषनिर्युक्ति एवं पिण्डनिर्युक्ति को एक मानकर आवश्यकसूत्र को भी मूलसूत्रों में गिनते हैं।

1 आवश्यक

१. आवश्यक सूत्र

इनमें से १० प्रकीर्णक, अंतिम २ छेदसूत्र और २ चूलिकाओं के अतिरिक्त ३२ सूत्रों को स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदाय मान्य करती हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ४५ को प्रामाणिक स्वीकार करती है। उस स्थिति में ओषनिर्युक्ति एवं पिण्डनिर्युक्ति को एक सूत्र के रूप में सम्मिलित कर लिया जाता है।

नन्दीसूत्र-गत कालिक उत्कालिक सूत्रों की तालिका में १० में से ४ प्रकीर्णक, २ छेदसूत्र एवं २ चूलिकाएँ (ओषनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति) नहीं हैं और ऋषिभाषित का नाम जो कि नन्दीसूत्र की तालिका में है, वह वर्तमान ४५

आगमों की संख्या में नहीं है। संभव है ४४-४५ आगम और ज्योतिषकरंडक आदि वीर नि.सं. ९८० में हुई वल्लभी परिषद् में लिखे गये हों। विद्वान इतिहासज्ञ पुरातन सामग्री के आधार पर इस संबंध में गम्भीरतापूर्वक गवेषणा करें तो सही तथ्य प्रकट हो सकता है।

स्पष्टीकरण

मूलसूत्रों की संख्या और क्रम के संबंध में विभिन्न मान्यताएँ उपलब्ध होती हैं। कुछ विद्वानों ने ३ मूलसूत्र माने हैं तो कहीं ४ की संख्या उपलब्ध होती है। क्रम की दृष्टि से उत्तराध्ययन को पहला स्थान देकर फिर आवश्यक और दशवैकालिक बताया गया है जबकि दूसरी ओर उत्तराध्ययन, दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र इस प्रकार मूलसूत्रों की संख्या तीन की गई है। पिण्डनिर्युक्ति तथा कहीं-कहीं पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को संयुक्त मान कर चार की संख्या मानी गयी है।

स्थानकवासी परम्परा के अनुसार आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नंदी और अनुयोगद्वार को मिला कर चार मूल सूत्र माने गये हैं। जबकि दूसरी परम्परा नन्दी और अनुयोगद्वार को चूलिका सूत्र के रूप में मान्य करती है।

संदर्भ

- अर्थ भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउण।
सासणस्स हियट्ठाए, तओ सुत्तं पवनइ।।
(आ. निर्युक्ति, गा. १९२, धवला भा.१, पृ. ६४, ७२)
- “दुवालसंगे गणपिडणे” (समवायागसूत्र १ व १३६, नंदी. ४०)
- सुत्तं गणहरकथिदं, तहेव पत्तेयबुद्धकथिदं च।
सुदकेवलिण कथिदं, अभिण्णदसपुब्बकथिदं च।।४।। (मूलाचार, ५-८०)
- इच्चेइयं दुवालसंगं गणपिडणं बुच्छित्तिनयट्ठाए साहयं सपज्जवसियं,
अबुच्छित्तिनयट्ठाए अण्णदयं अयज्जवसियं।। (नन्दीसूत्र, सूत्र ४२)
- “तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जं सुहम्मस्स अण्णारस्स जेट्ठे अत्तेवासी अज्जं जंबू
नामे अण्णारे.....अज्जं सुहम्मस्स धेरस्स मच्चासन्ने नाइदूरे.....
विणएणं पज्जुवारसण्णे एवं वयासी जइणं भत्ते समणेणं भगवया महवीरेणं.....
...पचम्मस्स अंगस्स अयमट्ठे पण्णत्ते छट्ठस्स णं भत्ते! नाथधम्मकहाणं के अट्ठे
पण्णत्ते? जंबूत्ति अज्जसुहम्मो धेरे अज्जं जंबू नामं अण्णारं एवं वयासी.....।”
(नायाधम्मकहाओ १-५)
- तत्र सर्वज्ञेन परनिर्षिणः परमचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उदिष्टः ...
.....तस्य साक्षात् शिष्यैः बुद्धयतिशयिर्द्वियुक्तैः गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृत-
ग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्।
(सर्वार्थसिद्धि १-२०)
- बुद्धयतिशयिर्द्वियुक्तैर्गणधरैरनुस्मृतग्रन्थरचनम्-आचारादि द्वादशविधमंगप्रविष्ट-
मुच्यते।
(राजवार्तिक १-२० १२, पृ. ७२)
- (क) तस्याप्यर्थतः सर्वज्ञवीतसाग्रणेत्कत्वशिद्धेः अर्हद्भाषितार्थगणधर देवैः ग्रथितम्

इति वचनात् । (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. ६.)

(ख) द्रव्यश्रुतं हि द्वादशगवचनानाम्कमाप्तोपदेशरूपमेव, तदर्थज्ञानं तु भावश्रुतं, तदुभयमपि गणधरदेवानां भगवदर्थत्वसर्वज्ञवचनानि शयप्रसादात् स्वमतिश्रुतज्ञान-वरणवरीयन्तरण्यक्षयोपशामातिशयाच्च उत्पद्यमानं कथमाप्तायतं न भवेत् ?

(तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक)

९. तद्विषये चेत् सुहृत्मा इरियो जंबूसानीयादीणमणोयागमा इरियाणां वक्त्राणि तदुक्तसंगे साइनउक्कखयेण केवली जादोः (जयवला, पृ. ८४)

१०. अंगपण्णति

११. दिगम्बर परम्परा में ११तें पूर्व का नाम कल्याण है।

१२. श्वेतम्बर परम्परानुसार पूर्वों की उपर्युक्त पदसंख्या समवायांग एवं नन्दीचूनि के आधार पर तथा दिगम्बर परम्परानुसार पदसंख्या भवला, जयभवला, गोम्मटसार एवं अंग पण्णति के अनुसार दी गई है। (सम्पादक)

१३. यतोऽनन्तार्थं पूर्वं भवति, तत्र च वीर्यमेव प्रतिपाद्यते, अनन्तार्थता चातोऽवगमन्तव्या तद्यथा—

सत्त्वनईणं जा होज्ज बालुया गणणमागया सन्ती ।

एत्तो बहुयतरागो, एग्गस्स अत्थो पुव्वस्स १ ॥

सत्त्वरुमुद्दाणजलं, जइ पत्थमियं हविज्ज सकलियं ।

एत्तो बहुयतरागो, अत्थो एग्गस्स पुव्वस्स ॥२ ॥

तदेतं पूर्वार्थस्यानन्त्याद्दीर्घस्य च तदर्थत्वादनन्तता वीर्यस्येति ।

{सूत्रकृतांग, (वीर्याधिकार) शीलाकाचार्यकृता टीका, आ. श्री जवाहरलाल जी म. द्वारा संपादित, पृ. ३३५}

१४. नन्दीसूत्र (धनपतिसिंह द्वारा प्रकाशित) पृ. ४८२-८४

१५. दो लक्खा अट्ठासीई पयसहस्साई पयग्गेणं.... (नन्दी, पृ. ४५८, राय धनपतिसिंह)

१६. चउरासीइपयसहस्साई पयग्गेणं पण्णत्ता.... (समवायांग, पृ. १७९अ, राय धनपतिसिंह)

१७. तित्थोगालो एत्थं, वत्तव्वा होई आणुपुव्वीए ।

जे तस्स उ अंगस्स, वुच्छेदो जहिं विगिहदुठो ॥ व्या. भा. १०, ७०४

१८. नन्दीचूर्णि, पृ. ९ (पुण्यविजयजी म. द्वारा संपादित)





मुनि श्रीसुशीलकुमार

भिक्षु जमाली और बहुरतदृष्टिवाद

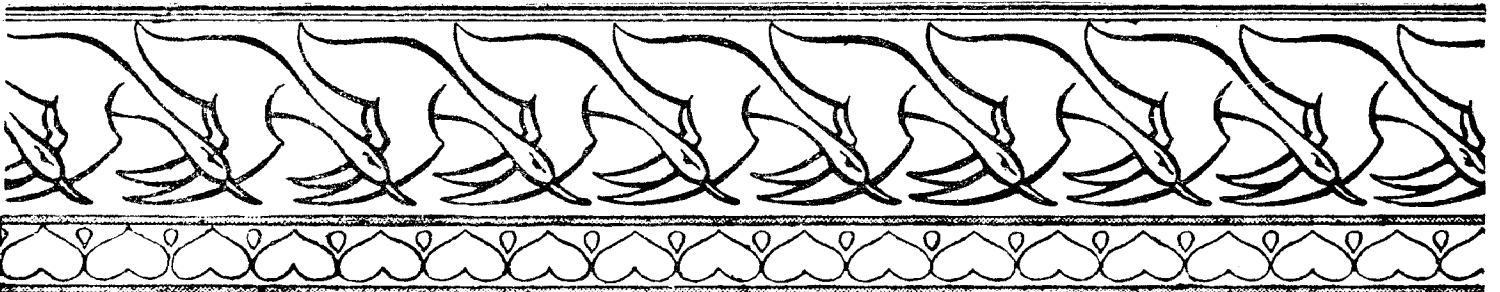
भगवान् महावीरके युग में, सत्य के सम्बन्ध में बहुत कुछ सोचा गया. वह एक चिन्तन-प्रधान युग था. विचारकोंने विचार की मौलिकता के नाते अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया था. विचार एक बहुत बड़ी शक्ति है. विचारकों के बल से हम मनुष्य के सोचने के ढंग को और सिद्धान्त स्थापित करनेवाले दृष्टिकोण को इस प्रकार व्यवस्थित कर देते हैं कि बुद्धि की सही समझ और स्फुरणा से उठे हुए भावावेग वास्तविकता का रूप ले लेते हैं. जीवन और जगत् के प्रति जितनी हमारी धारणा है वह सब विचारकों की देन है. हमारे विश्वास और हमारी श्रद्धा हमें अपने सम्बन्ध में और जगत् के सम्बन्ध में स्वरूप निर्धारण करने में एक मात्र सहायक होती है.

भगवान् महावीरने आत्मा को और इस सारे जगत् को स्याद्वाद की दृष्टि से, नय और निक्षेपके वर्गीकरण से व भेद और अभेद दृष्टि से सोचा है. इसी तरह भगवान् बुद्ध ने, पूर्ण काश्यप ने, प्रबुद्ध कात्यायन ने, मंखली गोशाल ने और संजय वेलट्ठी-पुत्त ने भी इस जगत् के सम्बन्ध में अपने-अपने ढंग से विचार किया है. वह हमारे राष्ट्र का स्वर्ण-युग था. उस काल में मौलिक विचार और मौलिक दर्शन हमारी संपत्ति बन रहे थे. विचारों की दृढ़ता और आचार की निष्ठा उस युग की अस्मिता बन गई थी.

जमाली उसी जमाने के ऋषि हैं. भगवान् महावीर के वे अनन्यतम शिष्य थे. सांसारिक सम्बन्ध में वे बहन के पुत्र होने के नाते भानजे लगते थे. और स्वयं भगवान् महावीर की सुपुत्री का परिणय भी उन्हीं के साथ हुआ था, इस नाते भगवान् महावीर के जामाता भी थे. वैराग्य-भाव के साथ जमाली ने ५०० राजकुमारों और सुदर्शना ने १००० सखियों के साथ भगवान् महावीर के पास दीक्षा धारण कर ली थी. भगवान् महावीर के केवल-ज्ञान के चौदह वर्ष बाद श्रावस्ती के तैदुकवन में यह चर्चा उठी थी, जिसको हम बहुरतदृष्टिवाद कहते हैं.

जमाली, श्रमण भगवान् महावीर से अलग हो कर तैदुकवन में विश्रामार्थ गये तो उन्होंने अपने शिष्यों से कहा, कि मेरा शरीर रुग्ण है, बहुत जल्दी मेरे शैयासन को बिछा दो. दर्शन का प्रारम्भ जीवन की बहुत छोटी-छोटी घटनाओं से हो जाया करता है. मालूम नहीं कब सत्य या सत्याभास हमें प्राप्त हो जाये और उसके पीछे हम अपना सर्वस्व लगा दें. ऐसी ही स्थिति जमाली की हुई.

आसन बिछाने की आज्ञा देने के बाद जमाली ने अपने शिष्यों से पूछा : 'मेरा आसन बिछ गया?' शिष्यों ने कहा : 'हां'. उनकी स्वीकारोक्ति के बाद जमाली जब बड़ी अधीरता के साथ पहुँचे तो देखा कि आसन अभी बिछ रहा है. जमाली ने कहा : 'सत्य का व्रत लेने वाले साधक इतना असत्य नहीं बोल सकते. आसन जब तक पूरी तरह बिछा नहीं, तब तक बिछे होने की बात कैसे कह सकते हैं?' शिष्यों ने कहा : 'श्रमण भगवान् महावीर का यह सिद्धांत है कि 'चलमारो चलिए' और अन्त में 'निज्जरमारो निज्जरिए' इसके अनुसार जिस काम को हम कर रहे हैं, उसको कर चुके, ऐसा हमें मानना चाहिए.' जमाली कहने लगे : 'जब तक काम पूरा न हो जाय, जब तक क्रिया उद्देश्य को परिपूरित न कर दे, तबतक हम



ऐसा नहीं कह सकते कि वह काम हो गया, अगर कहते हैं तो उसमें असत्य लगता है।^१ बस इतनी-सी बात पर चर्चा चल पड़ी। भगवान् महावीर का सिद्धांत और जमाली का तर्कवाद दोनों एक दूसरे के विरुद्ध मोर्चा बना कर खड़े होगए। जमाली के साधुओं में और सुदर्शना की साध्वियों में यह चर्चा चल पड़ी कि जमाली का कथन सत्य है या भगवान् महावीर का! सुदर्शना जमाली के सिद्धांतका समर्थन करने लगी। किन्तु कुछ समय पश्चात् ही एक ऐसी घटना घटी कि जिससे उसे अपनी भूल का पता चल गया। ढंक नाम के प्रजापति के यहां ठहरने का अवसर प्राप्त हुआ। ढंक जमाली के इस सिद्धांत का विरोधी था और भगवान् महावीर के 'चलमाणे चलिए' सिद्धांत का उपासक था। उसने उसके सामने अग्नि का एक शोला महासती सुदर्शनाकी साड़ी पर गिरा दिया। गिरते ही सुदर्शना चिल्ला उठी : 'मेरी साड़ी जल गई। तब ढंक ने कहा : 'आप जमाली के सिद्धांत को मानने वाली हैं, जब तक क्रिया की अन्तिम परिणति न हो जाय, तब तक आप यह नहीं कह सकतीं कि साड़ी जल गई, क्योंकि शोले ने साड़ी नहीं जलाई, अभी तो इसका एक हिस्सा ही जला है। आपने कैसे कह दिया कि साड़ी जल गई। बात तो व्यवहार की थी पर उसका असर मन पर हो गया और जमाली के सिद्धांत को एक आग के छोटे से शोले ने तथ्यहीन कर दिया। सुदर्शना के साथ अन्य साध्वियाँ भी महावीर के संघ में जा मिलीं। बहुत साधु भी जिनके मन में जमाली के सिद्धांत के प्रति आस्था नहीं हुई, भगवान् महावीर के श्रमण-संघ में चले गये, किन्तु जमाली अपनी बात पर डटे रहे और उनके लगातार चिन्तन ने बहुरतदृष्टिवाद को जन्म दिया।

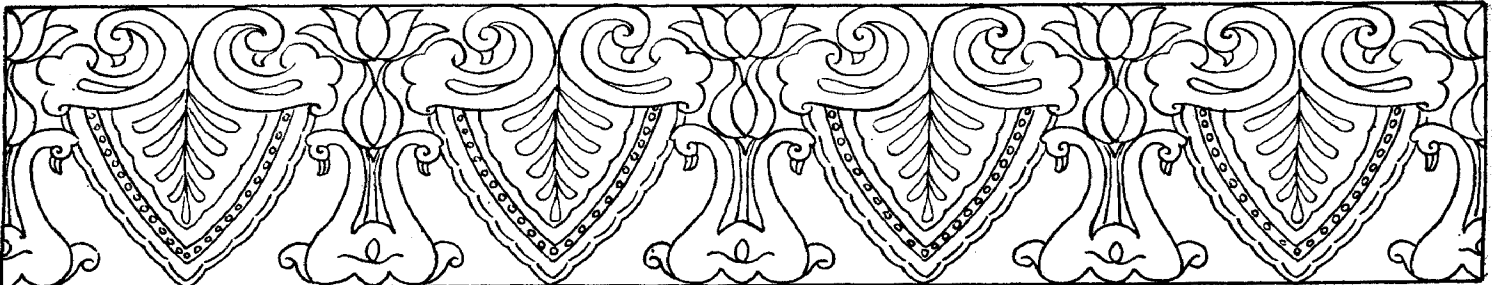
व्यवहार का बहुत-सा सम्बन्ध जमाली के सिद्धांत से जुड़ता है। हम भोजन कर रहे हैं तो ऐसा नहीं कह सकते कि भोजन कर चुके। हम जा रहे हों तो ऐसा नहीं कहते कि हम जा चुके हैं। हम लिख रहे हों तो ऐसा नहीं कह सकते कि हम लिख चुके हैं अगर कहते हैं तो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य उसके साथ नहीं रहता। जमाली ने अपने बहुरतदृष्टिवाद की सिद्धि के लिए जितने तर्क दिए हैं वे सब व्यवहार से लिए हैं। बहुरतदृष्टिवाद का अर्थ यह है कि उद्देश्य की परिपूर्णता में जब हम सफल हो चुके हों अर्थात् बहुतांश या सर्वांश में जब हम क्रिया पूर्ण कर लें तभी हमें किसी कार्य को 'किया हुआ' कहना चाहिए। यही जमाली का दर्शन था।

वाणी सत्य के किनारों से सट कर चल सके, इस पर बड़ी शोध हुई है। यद्यपि वाणी और सत्य को अर्थात् यथार्थ और भाषा को आपस में जोड़ने की क्षमता पूर्णता से मनुष्य को प्राप्त नहीं हुई है। भाषा इतनी निर्बल और शक्तिहीन है कि वह अपने मन में उठने वाले किसी गंभीर भावावेग को अभिव्यक्ति नहीं दे सकती। गुड़ खाने के बाद गुड़ का स्वाद बताने का सामर्थ्य हमारी भाषा में नहीं है, 'गूंगे का गुड़' लोकोक्ति से आप यह मत समझ लीजिये कि गूंगा ही गुड़ का स्वाद नहीं बता सकता अपितु संसार का कोई भी व्यक्ति नहीं बता सकता। सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि जब हम सत्य बोलने की प्रतिज्ञा लेते हैं उस समय जितनी सरलता प्रतीत होती है, उतना बोलने में सत्य को स्थापित करना आसान नहीं होता है।

जमाली सत्य के पक्षपाती थे, और सत्य की पूर्ण रक्षा के विचार से ही उन्होंने बहुरतदृष्टिवाद की स्थापना की। जीवन के अन्त तक वे इसी बात पर डटे रहे। किन्तु भगवान् महावीर के अकाट्य तर्कों और गहराइयों से प्राप्त हुए अनुभव के मोती इतने वास्तविक थे कि उन्होंने बहुरतदृष्टिवाद को स्थापित नहीं होने दिया।

भगवान् महावीर का कथन था कि लोग समय की सूक्ष्मता को और क्रिया की तीव्रता को पहचान नहीं पाते हैं। काल का सबसे छोटा हिस्सा, जिसके हम टुकड़े न कर सकें और जिससे और लघुतम काल की कल्पना न कर सकें, एक 'समय' कहा गया है। 'समय' को समझाने के लिये किसी भी दृष्टांत के द्वारा 'नेति-नेति' प्रक्रिया का ही अवलम्बन लेना पड़ता है। भगवान् महावीर कहते हैं कि आँख की पलक गिरा देने मात्र में अक्षर्यात समय बीत जाते हैं। 'समय' कितना सूक्ष्म है, इससे आप अनुमान लगा सकते हैं। फिर आवलिका, श्वासोच्छ्वास, प्राण, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, सहस्रयुग, पूर्व, शंक्रु, महापञ्च, निखर्व, त्रुटितांग और शीर्षप्रहेलिका तक की गणना तो और भी विस्तृत है। यह सब गणना भी समय को नापने में असमर्थ है।

१. विस्तार से जानने के लिए देखिए विशेषावश्यकसूत्र —गा० २३०६ से २३३२



कोई बलिष्ठ नवयुवक अपने बलिष्ठ हाथों से जब वस्त्र काटता है तो जमाली के अनुसार जब तक वह पूरा वस्त्र न काट ले तब तक वस्त्र काटा हुआ नहीं कहा जा सकता। किन्तु भगवान् महावीर कहते हैं कि वस्त्र काटने की प्रथम क्रिया जितनी हो चुकी है, जिसमें कितने तन्तु कट चुके और एक तन्तु में कितने रेशे, और एक रेशे में कितने रज-कण और हर रज में कितने परमाणु प्रदेश, उन सबको काट कर के ही वह व्यक्ति उस वस्त्र के मध्य तक पहुँचा है। अगर आप कहें कि पहला तन्तु जो उसने काटा और पहले तन्तु में रहे हुए लक्ष्यावधि रजकणों को काटा, वह सब काटा हुआ नहीं माना जा सकता, तो समूचे वस्त्र का काटना भी आप कैसे मानेंगे ? क्योंकि वही क्रिया काटने की पहले समय भी हुई और अन्तिम समय में भी वही काटने की क्रिया की गई। कोटि-कोटि तन्तुओं के रजकणों को काटने को काटना हम नहीं मानें और जिनको हम काट चुके हैं उनको हम काट रहे हैं, कहें तो क्या यह सत्य के निकट होगा ?^१ आप भोजन कर रहे हैं, लेकिन आप जो ग्रास खा चुके और उस एक ग्रास में कितने बीज और उस बीज में रहे हुए कितने रज-कण, हर रजकण में कितने परमाणु-प्रदेश को खा चुकने पर भी आप खा रहे हैं। यह कैसे कहेंगे ? यही उदाहरण आप चलने पर घटाइये, अनुभव पर घटाइये, मरने पर घटाइये, छेदन करने में, भेदन करने में घटाइये अथवा किसी पर भी घटाइये। आपको इस सत्य का दर्शन होगा कि आप जिसे काट रहे हैं, उसको काट चुके हैं, चल रहे हैं वो चल चुके हैं। अनुभव कर रहे हैं, वो कर चुके हैं। अगर इसे व्यवहार में घटाना हो तो एक बड़ा सीधा उदाहरण है। कोई व्यक्ति अपने घर से अमरीका के लिये चल पड़ता है, और थोड़ी देर बाद उसका कोई मित्र आकर पूछता है कि वह कहाँ गया ? आप कहते हैं—अमरीका गया। बेशक वह अभी रास्ते में ही हो, या चल रहा हो परन्तु इस बात को सुनने के बाद भी आपके कथन को कोई असत्य नहीं कहता। जब कि उद्देश्य के नाते वह असत्य है।

अमरीका जाने के निमित्त घर से चल पड़ने का नाम ही अमरीका जाना मान लिया, यह क्यों ? इसलिए कि यह एक व्यवहार है। उद्देश्य के नाते यह कथन सर्वत्र असत्य नहीं है। किन्तु कर्मवाद के क्षेत्र में जब हम भगवान् महावीर के सिद्धान्त को घटायेंगे, केवल-ज्ञान की प्राप्ति और महा-परिनिर्वाण की अवस्था में इसे लागू करेंगे तो हमें भगवान् महावीर के इस सिद्धान्त की सच्चाई का दर्शन होगा。^२ जैसा कि भगवती सूत्र में भगवान् ने कहा है कि : प्रथम समय के चलित कर्म अथवा आदि समय में चलित कर्मांश को उत्तर समय की अपेक्षा चलित मानना। उदय में आए हुए कर्म-दलिक के अनुभव को असंख्यात समयवर्ती उत्तर समयों की अपेक्षा वेदित मानना। भोगते हुए कर्मभोग को मुक्ति मानना। जीव-प्रदेश हे कर्मांश को प्रहाण करते हुए प्रहीण मानना। छेदन होते हुए कर्मांश को छिन्न, भेदन होते हुए कर्म के रसास्वाद को भिन्न, दग्ध होते हुए कर्मांश को दग्ध, नष्ट होते हुए आयुष कर्मांश को मृत और निर्जरित अर्थात् अपुन-भवि रूप में क्षय करते हुए कर्मांश को निर्जरित मानना ही सिद्धान्त के अनुकूल है।

सत्य की गहराई और कर्मबन्ध की विलक्षणता, केवलज्ञान की उत्पत्ति और निर्वाण की प्राप्ति के सारे पहलुओं को समझ लिया जाय तो हम इन एकार्थक और भिन्नार्थक वाक्यों की सच्चाई को सही रूप से जान सकते हैं। अगर हम समय की सूक्ष्मता में विश्वास करते हैं, क्रिया की तीव्रता को मानते हैं और स्कन्ध, देश, प्रदेश के सारे पदार्थगत सूक्ष्म तन्त्रात्मक, हिस्सों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, तो भगवान् महावीर के सिद्धान्त को माने बिना किसी तरह भी सत्य हाथ नहीं लग सकता। सत्य के प्रति तीर्थंकर भगवान् कितने जागरूक थे और कितनी गहराई से उन्होंने हमारे सामने इस सत्य का प्रकाश अनाव्रत किया है, उसके लिये युग-युग तक हम उनके कृतज्ञ रहेंगे। यह स्वाभाविक है, किन्तु जमाली श्रमण के इस उपकार को हम नहीं भुला सकते कि अगर वह बहुरतदृष्टिवाद के आग्रही सिद्धान्त को स्थापित न करते तो हमें भगवान् महावीर के सत्य-सिद्धान्त को समझने में अवश्य कठिनाई अनुभव होती। ★

१. अनुयोगद्वार सूत्र.

२. चल माणो चलिए ?, उदीरिज्जमाणो उदीरिए ?, वेइज्जमाणो वेइए ?, पहिज्जमाणो पहीणो ?, छिज्जमाणो छिन्ने ?, मिज्जमाणो भिन्ने ?, उज्जमाणो उज्जे ?, मिज्जमाणो मडे ?, निज्जरिज्जमाणो निज्जिए ?

the reading is both difficult and doubtful.⁶ We are thus permitted to introduce, at need, new corrections into the text which is presented to us. The formula is here different from that which we find in the two preceding cases. Burnouf clearly saw that the name of the king is this time in the nominative. It follows that we must divide the words after *abhisié*. The characters which follow present some uncertainty. I shall commence by considering those with which the next line commences. Basing my emendation on the analogy of the inscriptions of Daśaratha, which have been also commented upon by Burnouf, I do not hesitate to read instead of 𑀓𑀲𑀭𑀸𑀓 *adamathātima* several characters of which are expressly given as hypothetical, 𑀓𑀲𑀭𑀸𑀓 *chāmdamasuliyān*. We must further, in order to complete the phrase, admit that the last letter of the preceding line is in reality 𑀓 *ā*. There remain the characters 𑀓𑀲 *nāmē* which I read 𑀓𑀲 *nāma*, which thus concludes a sentence and separates it from what follows. The concluding words present two difficulties. The first is the form *supiyé*, which ought to contain the name of the cave, and should consequently be corrected to *supiyā*, equivalent to *supriyā*. The second concerns the word *khalatipavata*. As in No II. we should expect a locative. I only see two alternatives. One is to read, *-pavaté*, but the locative is rarely formed in this fashion in inscriptions, such as the present one, in the Māgadhi dialect. The other is to assume that a letter has been omitted, and to restore to *-pavatasi*. This is, in my opinion, the preferable course. To sum up, we may almost certainly translate as follows:—

TRANSLATION.

The king Piyadasi was crowned nineteen years ago. [This has been made] for as long as the moon and the sun may endure. This cave, called Supiyā, on Mount Khalati, has been given.

WEBER'S SACRED LITERATURE OF THE JAINS.

TRANSLATED BY DR. HERBERT WEIR SMYTH.

(Continued from p. 29.)

XII. The twelfth *angam*, *diṭṭhivāa*, *drisṭhivāda*, presentation of the (different) views.¹ This title [342] corresponds to our information in reference to the contents of this text now no longer extant; and we conjectured on page 248 that the character of its contents was the *causa movens* of its loss. On page 242 we saw that in all probability the *diṭṭhivāa* is not further mentioned even in the *āngas* with the exception of *āngas* 4.² This remark holds good merely of the name *diṭṭhivāa* and not of the so-called 14 *puvvas*, which, according to the presentation of the subject in *ānga* 4, form a principal part of the *diṭṭh*. Tradition indeed appears to regard the *puvvas* as identical with the *diṭṭh*. The 14 *puvvas* are mentioned both in *ānga* 10 (the redaction of which, as we have seen, p. 327 foll., is of secondary origin), where their division into *pāhudās* is alluded to (see p. 333), and frequently in *āngas* 6 and 8; and in fact in a very peculiar way. The detailed discussion, according to name and contents, of the 14 *puvvas* in *ānga* 4 and *Nandī* and in the later tradition, cites the *uppāyapuvva* at their head. Twice in *ānga* 6 and once in *ānga* 8 (3, 1) are they characterized, just as are the eleven *āngas*, or together with them, as *sāmāyiyā-māyāṭim*. Leumann says: "Of special interest are three of the many instances in *ānga* 6, where it is related that a man who has just become a member of the order studied the 14 *puvvas* or 11 *āngas*." These three instances are found in p. 591 of the Calcutta edition, compared with p. 597, p. 1354, compared [343] with p. 1355 and p. 1454, compared with p. 1455. The second passages quoted, in which the 11 *āngas* are mentioned, have reference to a period later by five to twenty years than the first, in which the 14 *puvva* are treated of."

⁶ I have seen this inscription many times, it being situated in this district (Gayā). It would be useless to attempt to give a revised rubbing, except to shew how extremely hypothetical much of the *Corpus* reading inevitably is. The face of the inscription has been chiselled away by some Musalmān fanatic.—G. A. G.

¹ *drisṭhivāda darsanāni, vadanam vādaḥ, drisṭhinām vādō drisṭhinām vā pātō yatra.*

² Leumann cites *ānga* 5, 20, 8 for the *durālasaṅga ganipidaga*, or *Āyārō jāva diṭṭhivāō*, likewise *bārasamig* in *ānga* 8 4, 1. The first passage is based in the last instance on *ānga* 4.

How can this use of the attribute *sámáiya-m-áiyám* of the 14 *puvvas* be explained? This use is found in no other place³ with the exception of *āngas* 6 and 8, and here only in the parallel use of the epithet in reference to the 11 *āngas*, and in no instance where there is an isolated mention of the 14 *puvvas*. Hence it is too bold an assumption if we assert that a *sámáiya-puvvam*, instead of the *uppáyapuvvam*, once actually stood at the head of the 14 *puvvas*. On the other hand, it is probable that in *ānga* 6 this epithet has been transferred from the *āngas* to the *puvvas*, and that the generic signification of the word *sámáia*, and the greater antiquity which the statements in *ānga* 6 probably possess in contrast to those in *āngas* 4, formed the means of transition. This assumption is however a mere make-shift, since there is no further criterion for such a special inter-relation of both groups of texts.

The *upāṅgas*, too, attest in several particulars the existence of *ānga* 12. In *up.* 8—12, probably the oldest of the *upāṅga* texts, it is true, only 11 *āngas* are mentioned. But in *up.* 1,²⁸ (Leumann, p. 36) we discover a reference to the choddasapuvvî together with the *duvālasaṅgiṇô*; and in the introduction to *up.* 4, [314] in v. 5, the *diṭṭhivāa*, and in v. 3, the *puvvasuyam*, are mentioned by name as the source of information of the author. It is furthermore worthy of note that *up.* 5 and 7 agree with the *puvvas* in the division into *pāhuḍas*. According to *up.* 6 they both appear to have been divided into *vatthas* at the time of this *upāṅga*. The tradition is desirous of establishing a close connection between the *upāṅga* and the *ānga* in the present order of succession of each. Hence we may conclude that, at the period in which the existing corpus of the twelve *upāṅgas* was established, — that is, at the date of the redaction of the present *Siddhānta*, — there were in reality 12 *āngas*, and that the *diṭṭhivāa* consequently still existed or was considered as extant.

The *diṭṭhivāa* or, as the case may be, the *duvālasaṅgaṃ gaṇipīḍagam* is frequently mentioned in the other parts of the *Siddhānta*, which are united to the *upāṅga*. These portions of the *Siddhānta* are in reality the storehouse of information about the *diṭṭhivāa* or *duvālasaṅgaṃ gaṇipīḍagam*. See the citations on p. 246 from *Āvaḡy.* and *Anuyōgadv.* With these may be associated the corresponding statements in *chhēdas.* 2 and *Nandī*, in which we find several direct citations (see below) from the *puvvas*; and in fact the *chhēdas* 3—5 are repeatedly called an excerpt from *puvva* 9, 3, 20, which is referred back even to *Bhadrabāhu*!

On p. 223, 224 we have seen from several old *versus memoriales*, the source of which is unfortunately no longer extant, that the *diṭṭhivāa* at the period of the existence of these verses was highly esteemed, inasmuch as it was designed for the highest gradation of intelligence, and was held to be the object of the study of the nineteenth year. Here we must not suppress the thought that the reason for this relegation of the *diṭṭh.* to a late period of study, was because it may have been considered [345] dangerous for an earlier and less mature stage of advancement. Finally, appearing as too dangerous,⁴ it may have been dropped altogether.

It is exceedingly peculiar that the *puvvas*, which are a principal part of the *diṭṭhivāa* and represent a preliminary stage of the *ānga* both according to tradition and, in all probability, to their name itself, are said to have proceeded from the mouth of the *tīrthakara* and to have been collected by his *gaṇadhara*s before the *āngas*. The *puvvas* are mentioned in *āngas* 6 and 8 as texts independent of, or even previous to, the 11 *āngas*, but in *āngas* 4, &c., are represented as forming but one of the five sections of the last *ānga*. It was to be expected that they should be partly independent texts, and partly should stand at the beginning of the entire *Siddhānta*.

The key furnished by tradition points to the fact (cf. p. 214) that the knowledge of the *diṭṭhivāa* (or of that of the *puvva* here identified with the *diṭṭhivāa*) was limited to *Bhadrabāhu* alone even at the time of the Council of *Pāṭaliputra*, which instituted the first collection of the

³ The cases cited above p. 241, 245, where was mention made of *sámāiam-āi jāva biadusārāḍ*, do not belong in this connection, since the first *āṅgam* and not the first *pūrvam* was there referred to.

⁴ The same probably holds good of the other texts above mentioned, which immediately preceded the *diṭṭhivāa*, and which are no longer extant.

āṅga texts; and that recourse was had to Bhadrabāhu when the collection of the 11 *āṅgas* was perfected. To this circumstance then we must ascribe the fact that the "*pūrvas*" are placed at the end and not at the beginning of the whole collection. But, [346] according to this very tradition, at that time, on the one hand, there were no longer 14 but 10 *pūrvas*, the knowledge of which was further disseminated, and, on the other, the *pūrvas* do not appear as a part of the *ditthivāda* but as the *ditthivāda* itself. Both of these statements of tradition are contradicted by a *locus classicus* which, in default of the text itself, affords, together with the detailed table of contents in *āṅga* 4 and *Nandī*, information concerning the *ditthivāda*. *Āṅga* 6 and the *Nandī*, our sources of information, are here in complete agreement, but in the table of contents of the other *āṅgas* the *Nandī* is much briefer than *āṅga* 4. The contradiction is this: (1) there is not even the slightest difference made between *pūrvas* 1—10 and 11—14; and (2) all the 14 *pūrvas* are cited as a mere section—the third part—of the *ditthivāda*.

As regards the latter circumstance, it may be stated that in the Siddhānta itself, though in late texts, we find several times the peculiar fact, that, in case a collective enumeration of the *āṅgas* is attempted, and the first member, whether it be *sāmāya* or *āyāra*, and the last, are mentioned, this last member does not appear as *ditthivāda* but as *vinḍusāra*. See above, p. 244, 245. *Vinḍusāra* is the title of the last of the fourteen *pūrvas*. It is certainly very remarkable that the title of a section (and *vinḍusāra* must be considered to be such in this connection as in others) is cōordinated with that of an independent text. As regards these passages it is impossible to assume [347] that the *ditthivāda* at that time exceeded this section in extent. This constitutes an important divergence from the presentation of the subject in *āṅga* 4, or *N.*, in which latter the *vinḍusāra*, as the last section of the third part, is followed by two additional parts. Hēmachandra, who in his treatment of the *drishṭivāda* (*abhidh.* v. 245, 246), cites the *pūrvā (gata)* as its fourth, and not as its third part, affords us only such assistance as confirms the divergence in question. Since the fifth part of the *drishṭivāda* consists of so-called *chūlikās*, which are a secondary addition, the *ditthivāda*, according to Hēmachandra's treatment⁵ too, actually concludes with the *vinḍusāra* section.

So much is clear:—That that conception which limits the *ditthivāda* to the 14 *pūrvas* alone is too narrow. We find a recognition of the other constituent parts of the *ditthivāda* also in those statements of the scholia, in which (cf. p. 258) "*pūrvāṇi sammaty-ādīkāś cha*" (*anuyōgaḥ*) are mentioned instead of the *ditthivāda* referred to in the text. See *Āv. nijj.* 8, 54. By *sammaty-ādīkāś (anuy.)* we are probably to understand the first parts of *āṅga* 12, though the order has been inverted.⁶

[348] To the statements made, p. 212 foll., in reference to the gradual decline of the knowledge of the *pūrvas*, I add the following:—In the *kālasattari* of Dhammaghōsa⁷ verse 38 foll., Thūlabhadda is referred to the year *Vira* 215; and there still existed in the time of *Vaira* 584 (*Vira*) 10, in that of *Dubbaliā* 616 (*Vira*), 9½ *pūrvas*. In the scholiast on the passage and in Kl. 247^b the latter name is cited as *Durbalikā-Pushpa* (°*shya*)*mitra*; in the Berlin scholiast on the *Nandī*, *introduc.* v. 32, as *Durvalikāpushpa* (°*shya*), he and his teacher *Āryarakshita* being called the two *navapūrvīṇau*. In the year 1000 the entire *pūrvagayam* was "*gayam*."

Let us now turn to the *locus classicus* itself. Its statements are unfortunately not clear and in fact were unintelligible to the scholiasts of both texts (*Abhayadēva* on *āṅga* 4, and *Anon.* on *Nandī*). They both assert with tolerable unanimity that, inasmuch as the text itself was

⁵ In Hēmachandra's treatment of the subject there are other minute divergences from the statements in *āṅga* 4, or *Nandī*; on which see below.

⁶ *Sammati* 1) "opinion," "view," in the St. Petersburg Dict., i.e., synonymous with *drishṭi*. Leumann tells me that Śīlśāka, too, on *āṅga* 1, 1, 8, refers to *sammatyādau* a discussion on the 7 *nayas* (see below p. 352), and was in possession of a text of that name before him; cf. also the *sammativṛitti*, below p. 371.

⁷ Dhammaghōsaśūri, scholar (v. 74) of *Dēviṇḍa*, died accord. to Kl. 255a *Saṃvat* 1357. This does not agree with *Kīlas.* v. 44 foll. where in general the same prophetic statements are found as in *Satruṅg.* Māh. 14, 200 foll. (See my Treatise, p. 47.) These statements contain the dates 1912 and 1850 *Vira* (i.e. *Saṃvat* 1442 and 1380).

no longer extant, they merely report the few utterances of tradition. Abhayadēva has the foll. at the beginning of his remarks : sarvaṃ idaṃ prāyō vyavachhinnaṃ tathā 'pi yathāpishṭaṃ (! °driṣṭaṃ ?) kiṃchit likhyatē; and the anonymous scholiast on N. has : s. i. pr. vy. tathā 'pi leśatō yathāgatasampradāyaṃ kiṃchid vyākhyāyatē. In explaining the first part Abhayadēva says : êtac ca sarvaṃ samūlōttarabhēdaṃ sūtrārthatō vyavachhinnaṃ and the anon. schol. :—tāni cha samūlōttarabhēdāni sakalāny api sūtratō 'rthataś cha [319] vyavachhinnaṃiyathāgatasampradāyataś cha darśitāni. Finally, Abhayadēva expresses himself in a similar manner concerning the second part : amūny api sūtrārthatō vyavachhinnaṃ tathā 'pi dṛiṣṭānusārataḥ kiṃchit likhyatē, and the anon. schol. says êtāny api samprati sūtratō 'rthataś cha vyav., yathāgatasampradāyatō vāchyāni.

The *dīṭhivāa* is stated to have consisted of five parts. The **first part** is the *parikamma*, by which, the scholiast says, we are to understand those preparations necessary to grasp the meaning of the *sūtras* correctly. These preparations are analogous to the 16 arithmetical operations *parikarmāni*, which must be understood in order to compute without assistance from others.⁹ They are divided into 7 groups, each one of which is again divided into various subdivisions, the total number of which is 83. The first two groups have each 14, the next five but 11 of these subdivisions, which everywhere bear the same title. They begin,⁹ in the case of groups 1 and 2 with the *mānyāpayaṃ*, in the case of groups 3—7 with the *pādho*. Pādho doubtless signifies "reading;" and the *mānyāpadāni*, numbering 46 according to *aṅga* 4, 46,—see p. 281,—recall the 46 signs of the alphabet, and therefore deal with preliminary instruction in reading and writing. The statement *bambhīe paṃ livīe chhāyālsam mānyakkarāni*, which follows immediately thereupon, tends however to invalidate [350] this assumption. Since this statement certainly, though strangely enough (see above, p. 281 note), refers to 46 sounds or signs of the alphabet, the 46 *mānyāpadāni* which are mentioned immediately before must refer to something else.¹⁰ Furthermore since both scholia upon this occasion offer the second of the above-cited explanations of their ignorance, and consequently make no attempt to clear up the names of the 7 groups or of their 84 subdivisions, it cannot be demanded of us that we do more than follow their example.¹¹

Following upon the enumeration of the seven groups is the significant statement¹² that six of this number (according to the schol. the first six) belong to the system *κατ' ἐξοχῆν* (*sasamāyāni*) and that the number seven belongs to the *ājiviyas*. The six are then characterized as *chaūkkanāyāni* (chaturayikāni); the seven as *terāsiyāni* (°yāim nayāim N, trairāsikāni). The scholia explain one of these two names of schools by [351] *Gōśālapravartitājivika* (°tā ājivikāḥ N) = *pāshaṇḍasiddhānta* (*pāshaṇḍinaḥ* N), the second by *trairāsikapāshaṇḍasthās*. The mention of this second name leads us, so to speak, to the domain of history. The *Tērāsiyas* represent the sixth schism,¹³ which *Āvasy*, 8, 56, 72 refers to the year 544

⁸ Schol. on N : *parikarma yōgyatāpādanam, taddhetuh śāstram api parikarma; sūtra-pūrvagatā-nuyōgasūtrārthagrahaṇayōgyatāśampādanasamarthāni parikarmāni, yathā ganitāsāstrē samkalitādny ādyāni shōdaśa parikarmāni śēshaganitasūtrārthagrahaṇe samarthānīpi dana* (doubtless °rthataśampā° ?) *samarthāni*.

⁹ The interesting fact becomes here apparent that the text of N is unconditionally older. See below.

¹⁰ It is greatly to be lamented that the MS. of Abhayadēva to which I have had access, is here so corrupt, that nothing definite can be gained from it. The passage reads :—(dīṭhivāyassa paṃ chhāyālsam mānyāpayaḥ paṃ, bambhīe paṃ livīe chhāyālsam mānyakkarā paṃ) : *dīṭhivāyassa tti dvādaśāṅgasya, mānyāpaya tti sakalatvāmayasya* (°) *akvāsādi* (akārādi?) *mātrikāpadāni 'va dṛiṣṭivēdārthaprasartha* (°) *nigamaḥ | dhōva* (°) *lakṣhaṇāni tōni va* (tāni cha) *siddhāsrēni-manushyaśrēny-ādinā*, (i.e., names of the first two groups of the *parikamma*) *vishaya-bhādēva* (°dēna) *katham api bhidyamānāni shachatvāriṃśad garatī* (bhavaṃtī 'ti?) *sambhādhyatē* (°vyatē) : *tathā bambhīe paṃ livīe tti lēkhyavidhau 46 mātrikāksharāni, tāni cha . .* (see p. 281).

¹¹ Some of these names are not certain since the MSS. vary. *Āgasapayāim, kēubhūyam, rāsibaddham, kēubhūya-padiggahō* refer probably to the domain of astronomy.

¹² In the Berlin MS. of the *Nandī* this passage is omitted in the text, though it is explained by the scholiast.

¹³ See above p. 275; accord. to Abhayadēva, however :—*ta ēva cā 'jivikāś trairāsikā bhanitāḥ*, or, accord. to the schol. on the *Nandī*, which is identical :—*ta ēva Gōśālapravartitā ājivikāḥ pēshaṇḍinas trairāsikā nchyaṃtē*—the *trairāsikā* are the same as the adherents of *Gōśāla*! In § 6 of the *Thērāvālī* of the *Kalpasūtra* *Chhalna*, the founder of the sixth schism, is stated to have been the scholar of *Mahāgiri*, who was the successor of *Thūlabhadra* (*Vira* 215, cf. p. 348), and is placed about 300 years earlier than *Vira* 544. These are discrepancies not easily overcome. The

after Vîra;¹⁴ and this name is perhaps attested by epigraphic testimony of the time of Gôtami-putra Sâtakarṇi. If we suppose that the reading Têrâsikâ, proposed by Bühler (Archæolog. Survey of West. India, 1882, p. 104) for the inscription Nâsik No. 11^a, is conclusive, it is not improbable that it refers to the Têrâsiyas quoted above. Bühler, it must be confessed, has adopted another explanation of the name in his Survey.

The explanations of the scholiasts have as yet not assisted me in the endeavour to discover what is referred to by the four *nayas*,¹⁵ &c. [352] It is a significant fact that the twelfth *āṅga*, according to the above statements, treated not merely of the proper but also of heterodox doctrines, or, as the case may be, of hermeneutic methods; and the title of this *āṅga* seems to refer to this peculiarity in its contents, which was probably of great moment in determining the fate of the last of the *āṅgas*. See pp. 248, 342.

The *suttâi* are cited as constituting the second part of the *diṭṭhivâa*. In all there are 88 *suttâi*, a number ascribed¹⁶ to the second part in *āṅga* 4, 38. In reality, however, there are but 22, beginning with *ujjuya* (*ujjusua* N; *rijuka*), but conceived as divided into four parts. The proper orthodox (*susamaya*) doctrines and the heterodox views are represented as being equally authoritative. The former are divided into two different forms which are also represented by the *âjîviya* (Gôśâlakaprawartitapâshaṇḍa Abh.), or *têrâsiya*. The 22 names are not explained by the scholia. They refer¹⁷ the name *sûtra* to the explanation of the meaning of the *pûrvas*, and consider this as well as the first part as an introduction to the third part of the *diṭṭhivâa* which follows.

[353] The third part is composed of *puvva gaë*, *pûrvagatam*, *i.e.*¹⁸ the 14 *pûrvâpi*, which the *tîrthakara* (Mahâvîra) himself is said to have imparted to his scholars, the *gajadhara*s—see above p. 216, 217—who then composed the *āṅgas* (*âchârâdikam*). Besides this explanation which represents the *pûrvas* as older and earlier doctrines anticipating the *āṅgas*, there is another which is possible. If our second conjecture is correct, we should have to understand by the *pûrvas* that preliminary knowledge necessary to the comprehension of the doctrine. The titles of the 14 *pûrvas*¹⁹ quoted here in the text and enumerated before in § 14 are explained singly in the scholia, and the number of their *padas* is stated. The enormous size of these figures greatly

further explanation of the name *trairâsîka* in the schol. on N. is:—*tê sarvaṃ vastu trayâtmakam icchamti, tad yathâ: jivo 'jivo jivâjivâs cha, lokô 'lokô lokâ-lokaś cha, sat asat sad-asat: nayachintâyîm dravyâstikam paryâyâstikam ubhayâstikam cha; tata: tribhî(h) râsîbhîs charantî 'ti trairâsîkas, tanmatena saptâ 'pi parikarmâni uchyantê. It is worthy of note that the triad form ascribed to the Trairâsîkas is made use of—cf. p. 266—in āṅga 4, where the statement of the contents of āṅgas 2—5 is given, and in fact with the citation of two of the examples quoted here. Accord. to the schol. on Kalpas, cf. Jacobi, p. 119, the Vaiśeshikadarśanam took its rise from the Têrâsiyas.*

¹⁴ Cf. *Avaiy.* 8, 37: *êchîm (êbhîr naigamâdibhir nayaih) diṭṭhivâë parûvaṇâ suttatathakapaṇâ ya.*

¹⁵ *nayâh sapta naigamâdayah, naigamô dvidhâ, sâmânyagrâhî viśêshagrâhî cha, tatrâ "dyaḥ saingrahê dvtiyyas tu saivyavahîrê pravishṭah, tatô dvau saingrahavyavahârau, rîjusûtras chah' kah sabddâdayas cha trayô 'py êka êva nayah kalpatô, tata êvañ chatvâra êva nayâh, êtais chaturbhir nayair âdyâni shaṭ parikarmâni svasamayavaktavyatayâ chintyantê; on this see Śîlâka on *âṅga* 1, 1, 8, above p. 347n.*

¹⁶ The *ujjusuya* and the *pariṇayâpariṇayam* are stated to be the first two in the series. As regards other names reference is made to the *Nanul* and not to the independent treatment of the subject further on in *āṅga* 4. See above p. 284.

¹⁷ *Sarvasya pûrvagatasûtrârthasya sūchanât sūtrâni, tēni cha sarvadrayâṇâm sarvaparyâyâṇâm sarvanayâṇâm sarvabhāṅgavikalpāṇām prakâśakâni dvāvîśatîh prajñaptâni, tathâ rîjusûtram iti âdi.*

¹⁸ Cf. Schol. Hêm. 245: *pûrvâṇâm gatâñ jnânam a-min pûrvagatam.* The anonymous author of the *Vichârâmrîtasaingraha* which contains in 25 *vichâras* a grouping of *siddhânta* passages, *âlapakas*, states that the *pûrvagatâ* *ârutadhara*s were called *vâchakas*, or, accord. to the *Nandivrittî*, cited by him, but which I have not seen, three other names *vâdîya khamâsamane divâyarê vâyaga tti êgatthâ* | *pûrvagayammi tu suttê êë saddâ pauttanti.* Can the *Vichârâmrîtasaingraha* be identical with the *Siddhântâlapakôddhâra* of *Kulamainâna*, *Sainv.* 1409—55 cited in *Kl.* 255b?

¹⁹ They agree in general with those in Hêm. 247, 248. The explanation is likewise identical; see the schol. *ibid.* The number of *padas* is the same as that stated in the introduction to the *Kalpântarvâchyâni*. In this work the number of *vasti* (*vastu*) of each *pûrva* is said to increase from 1 on by geometrical progression (8192 in the case of *pûrva* 14). Here however in the text itself—see p. 366—we find entirely different figures which are quite credible. The figures in the case of 1. 3. 7. 10 vary somewhat in the enumeration of the *pûrvas* in *Nêmichandra*'s *pravachanasârôddhâra* § 92, v. 719—25.

exceeds as a rule that which the scholiasts—see above p. 288—state to be the number of the padas of the *āṅgas*, each one of which was said to contain twice the number of padas of the preceding.

The names of the Pūrvas [354] are as follows:—

1. uppāyapuvvam,²⁰ utpādapūrvam; 10 vastu and 4 chūliya vastu; êkā padakōṭi, 10 millions.

2. aggēniyam (A B C), aggē-aṅiyam N (aggāṅiyam NED., according to Leumann); agrēṅi-yam Abh.,²¹ and agrāyaṅiyam²² Schol. on N; 14 vastu (so also in § 14) and 12 chūliya vastu; shaṅṅavatiḥ padalakshāḥ (9,600,000). A direct citation from this is found in *Āvaśy.* 10, 42²³ and in Malayagiri on *upāṅga* 4 (agrāyaṅiyākhyê dvtiyapūrvê karmaprakṛiti prābhṛitê bāṁdhavi-dhānê sṭhitibāṁdhādhikāṛê chatvāri anuyōgadvārāṇi . .). An anonymous avachūri on Chandramahattara's saptatikā (ms. or. fol. 690) calls this work an excerpt from the *diṭṭhivā*, especially from the fourth prābhṛitam (karmaprakṛitināmam) of the fifth vastu of the second pūrva ("agrāyaṅiya"). In the Vichārāmṛitasamgraha we find the following interesting statement taken from the "*Nandivṛitti*":—Sivaśarma-Sūryādibhir agrê 'uṅyādi-pūrvēbhyaḥ samuddhṛitāḥ śatakādi-karmagraṁthāḥ. There actually [355] exists a *siddhapāḥudam* in 120 gāthās, which is characterized as having taken its rise from the *aggēniyapuvva*; see p. 361.

3. vīriyam, vīryapravādam²⁴; 8 vastu and 8 chūliya vastu; tasyā 'pi (!) saptatiḥ padasahasraṅi Abh., but in the schol. on N: 78 padalakshāḥ 7,800,000.—Citation from this in Haribhadra on *Āvaśy.* 10, 42 (see p. 354, note 4).

4. atthinatthippavāyam, astināstipravādam²⁵; 18 vastu (also according to § 18) and 10 chūliya v.; 60 padalakshāḥ, 6 millions.—Citation as above.

5. nāṅpavāyam,²⁶ jñānapravādam; 12 vastus; êkā padakōṭi êkapadōnā (Abh., padēnai 'kēna nyūnā schol. on N), i.e., 9,999,999 (!); Malayagiri on N has, according to Leumann, 10,000,006.

6. sachchappavāyam, satyapravādam²⁷; 2 vastus, êkā padakōṭi śhaḍbhir adhikā, 10,000,006 (!) 060 Malay., according to Leumann.

7. āyappavāyam ātmapravādam²⁸; 16 vastus (also according to § 16); 26 padakōṭayāḥ, 260 millions. Leumann says that a passage, which caused the second schism, is found in the schol. on *āṅga* 3, 7 (see above, p. 275). *Uttarajjh.* 3, 9. *Āvaśy.* 8, 65.

²⁰ sarvadravayānāṁ paryavāṅgāṁ (! paryāyāṅgāṁ) chō 'tpādabhāvam aṅgikṛitya prajñāpanā Abh., sarvadravayānāṁ utpādām adhikṛitya prarūpanā N.

²¹ tatrā 'pi sarvēśhām dravyāṅgāṁ paryavāṅgāṁ (! jivavīśēśhāṅgāṁ chā 'graṁ parimāṅgam varṇyatē ity agrēṅiyam, Abh.; agrāṁ parimāṅgam tasyā 'yanam parichhēdas, tasmai hitam agrāyaṅiyam sarvadravayādi-parimāṅgākāri Schol. on N.

²² The Schol. on Hēm. and Kalpāntarvāchyāni has the same.

²³ aggēṅnammi jahā Divāyaṅga jattha ēga tattha sayam | jattha sayam tatthē 'go hammai vā bhūṁjāē vā vi | Haribhadra says: jahā agrēṅṅiē (!) vīriē atthinatthippavāyapuvvē ya pādho: jatthē 'gō Divāyaṅgō bhūṁjāē tattha Divāyaṅgasayam bhūṁjāē, jattha Divāyaṅgasayam bhūṁjāē tattha ēgō Divāyaṅgō bhūṁjāē; ēvam hammai. According to this the similar passage should be found also in puvvas 3 and 4. See the remarks on *Ambaḍa* in *Aup.* § 59; *Ambaḍa* is mentioned *ibid.* § 76 together with Divāyaṅga.

²⁴ padaikadēśē padasamudāyōpachārāt sakarmētārāṅgāṁ jivānām ajivānām cha vīryam pravadatī 'ti vīryapravādam Schol. on N.

²⁵ yat lokē dharmāstikāyādi vastu asti yach cha nā 'sti kharasṛiṅgādi tat pravadatī 'ty astinō 'dam, Schol. on N. The yal lokē yathā vā nā (del.?) 'sti atharā syādvādābhīprāyatas tad ēva nā 'stī 'ty ēvam pravadatī 'ti, Abh. The syādvāda, which the Brāhmins consider to be a distinguishing mark of the Jains, comes here for once into prominence.

²⁶ matijñānādibhēdabhinnaṁ saprapaṁchaṁ vadatī 'ti Schol. on N; matijñānādipañchakāśya bhōdasya prarūpanā Abh.

²⁷ satyam saṁyamō vaḥanaṁ cha, tat prakarshēṅga vadatī, Schol. on N; tad yatra sabhēdam apratipakshāṁ cha varṇyatē Abh.

²⁸ ātmānām jivam anēkadhā nayamatabhēdēna yat pravadatī, Schol. on N.

[356] 8. kammappavâyam, karmappravâdam²⁹; 30 *vastus*; êkâ padakôṭi 80 padasahasrâni, 10,080,000 (!). A passage from this, which caused the Abaddhiâ or Gotṭhâmâhila to inaugurate the seventh schism is found in the extract just quoted, and in Haribhadra on *Âvasy.*, 8, 88, where he remarks: atṭhamê kammappavâyapuvvê kammañ parîvîmṭi upon the following passage of the text: Gotṭhâmâhila navamatṭhamêsu puchchhâ ya Viñjhassa.

9. pachchakkhânappavâyam,³⁰ pratyâkhyânpravâdam; 20 *vastus* (also in § 20); 84 padalakshâh, 8,400,000. For this *pûrvam* we have quite a number of references. The above cited passage of *Âvasy.* 8, 88-91 and Haribhadra's scholion seem to prove that the Abaddhiâ stood in some relation to the ninth *pûrva*.³¹ The statement is frequently made that the *kalpasûtram*, which forms the eighth *adhyayanam* of the dasâsrutaskandha, and the fourth *chhêdasûtra*, was "uddhṛita" by śri Bhadrabâhusvâmin from the ninth *pûrva*. Thus, for example in the introduction [357] to the Kalpântarvâchyâni.³² This appears to me to rest upon a misunderstanding (as will be developed further on) of the statement that is frequently met with elsewhere, e.g., in Dharmaghôsha in the Rishimaṇḍalasûtra v. 167 (see Jacobi, *Kalpas.* p. 11, 12), to the effect that Bhadr. extracted *dasa*³³ *kappavavahârâ* from the 9th *puvva*. By these are meant the *chhêdasûtras* 3-5, and by *kappa*, not the *kalpasûtram*, but the fifth *chhêdasûtram* is implied. Haribhadra, too, on *Âvasy.* 6, 88, characterizes the ninth *pûrvam* in general as *chhêdasûtra lakshanaṃ* and especially the twentieth *prâbhṛitaṃ* (by name oghapr.), the third *vastu* (by name âchâra) as the source of the *ôghaniryukti* treating of the *oghasâmâchârâ*. He says that the *ôghaniryukti* is *nirvyûdhâ* therefrom. In an *avachûri* (composed³⁴ A.D. 1383) on Droṇâchârya's *vṛitti* of the *ôghaniryukti*, the *chhêdasûtras*, especially *kalpa* and *vyavahâra*, are referred to the same source. See also the scholiast on *Uttarajjh.* 26.

10. vijjâñuppavâyam, vidyânupravâdam³⁵; 15 *vastus* (also in § 15); êkâ padakôṭiḥ daśa cha padasahasrâni (daśa cha p. omitted in N) 10,010,000. The cause of the formation of the fourth schism is a passage from this *puvva*, cited in the passages quoted on *puvva* 7, or *Âv.* 8, 88: [358] ñeṇiñâ 'nuppavâê, on which Haribhadra says: anupravâdapûrvê ñeṇiñiyam vachham [vatthu?] paḍhati). Leumann compares the 9 ñeṇiñiya vatthus in aṅga 3, a.

11. avañjham, avamḍhyañ.³⁶; kalyâṇam Hêm., abandhyam iti vâ Schol.: 12 *vastus*; 26 padakôṭayah, 260 millions.

12. pânâñum, prânâyus;³⁷ prânâyâyam (!) Hêm.; 13 *vastus* (cf. § 13); 1 padakôṭi 56 padasatasahasrâni, 15,600,000.

²⁹ karma jñânâvarapîyâdikam aṣṭaparakâram, tat prakarshêṇa prakritisthity-anubhâga-pradêsâdibhir bhêdair saprapañcham vadati, Schol. on N, . . bhêdair anyais chô 'ttarôterabhêdair yatra varnyatê, Abh.

³⁰ tatra sarvapratyâkhyânasvarûpam varnyate, Abh., in the Schol. on N merely: atrâ 'pi padaikadêsê padasamudâyopachârât.

³¹ The text reads puṭṭhō jahâ abaddhō | kamcûpam kamcûo samunnêi | êvam puṭṭham abaddham | jivô kammañ samannêi || 90 || pachchakkhâpam sêam | aparimâṇeṇa hoi kâyavvam | jêsîm tu parimâṇam | tam daṭṭham (duṭṭham B H) âsâs hoi || 91 || Haribh. has: pratyâkhyânâñ êrêyah aparimâṇeṇa kâlâvadhîm vihâya kartavyam, -- jam tassa avasêsam navamapuvvassa tam sammattam; tatô sô abhinivesêṇa Pûsamittasayâsam chêva gamtûna bhapañ — Pûsamitta's name is elsewhere brought into connection with the fourth schism. See schol. on ap. 1, below p. 331. This name occurs frequently in the legends of the Brahmîns and Buddhists.

³² This is the chief passage, which contains the statements in reference to the *pûrvas*.

³³ Dasa is not to be connected with *kappa*, as is assumed by Jacobi (The ten *kalpas*), but denotes the dasâo, the fourth *chhêdasûtram* itself, a part of which exists to-day under the title of the *kalpasûtram*.

³⁴ navamapûrvântarvarti tritiyam sâmachârivastv asti, tatrâ 'pi viñsatitamât prâbhṛitât sâdhyanugrahârtham Bhadrabâhusvâminâ nirvyûdhâ. The following fact speaks decisively against Bh. as author of the *ôghan*. In v. 1 not only are the chaṭṭhasapuvvins praised, to which he himself belongs, but also the dasapuvvins which reach to *Vajra*; consequently the existing text must have been composed at a period considerably posterior to *Vajra*.

³⁵ tatrâ 'nêkavidyâtisayâ varnitâh, Abh., vidyâ anêkâtisayasampannâ ânukûlyêṇa siddhiprakarshêṇa vadati ti, Schol. on N. On sâtiśayatva in connection with vidyâ, cf. p. 251n.

³⁶ vamdhyam nâma nihphalam, avamḍhyam saphalam iti a., tatra hi sarvê jñânatapâhsamyamayôgâh sūbha-phalêna saphalâ varnyantê, aprasastâs cha pramêdâdikâh sarvê aśubhaphalâ varnyante, Abh.

³⁷ prânâñ pamecê mdrîyâni 5, trîpi mânasâdini valâni 3, uchvâsa-ni(h)svâsô 1, âyus cha, tâni yatra varnyantê tad upachârât prânâyuh, schol. on N.

13. *kriyāvisālam*, *kriyā*(*bhūh*) *visālam*³⁹; 30 *vastus*; 9 *padakōṭayah*, 90 millions.

14. *lōgaviṃḍusāraṃ* (without *lōga* in § 14), *viṃḍur iva sāraṃ*;³⁹ 25 *vastus* (also in § 25); *ardhatrayōḍaśa*(*sārdha*° N) *padakōṭayah* 125 (135 N) millions. This *pūrvam* is often mentioned as the conclusion of the *aṅgas* or of the *suvaṇṇa*. See above p. 245, 346.

It is now perfectly clear that the number of *padas* which has been handed down to us is purely a matter of fiction. The exact figures in the case of 5 and 6 are simply amusing. It is easy to revel in details, when the fancy is the only controlling agent.

The enumeration of the names in the text is followed by detailed statements in reference to the number of each of the *vatthus*, [359] *vastus* and *chūliyas*, or *chūla-vatthus*,⁴⁰ *i.e.*, sections into which each of the 14 *pūrvas* are divided. These numbers, in all 225 *vatthus* (*mūlav.*) and 34 *chūlav.*, are also mentioned in three *kārikās*, which have been inserted; and each of which has been quoted in its proper place.

The fourth part is called *anuyōga*; Hēm. calls it *pūrvanuyōga*⁴¹ and places it (cf. p. 347) in the third position, the *pūrvagatan* occupying, according to him, the fourth place. A contents of historical character is ascribed to this fourth part. The *anuyōga*⁴² is divided into two sections: (1) into the *mūlaprathamānuyōga*, treating of the root (of the tree of the sacred doctrine), or, according to the scholiasts, of the *tīrthakaras*,⁴³ *i.e.*, the history of the beginning, of the preliminary birth, of the existence and of the final completion of the *bhagavāntīṇaṃ arahantīṇaṃ*; and (2) into the *gaṇḍikānuyōga*, *i.e.*, the doctrine of the "little knots," single knotted points, members, sprouts,⁴⁴ of the sacred doctrine, *i.e.*, the history of the numerous figures of the Jaina hagiology which are stated to be — [360] *kulakarā*, *tīrthakara*, *gaṇadhara*, *chakkadhara*, *Dasāra*,⁴⁵ *Baladēva*, *Vāsudēva*. The history of *Harivaṃśa* is added to this group and, strangely enough, that of *Bhadrabāhu* himself, whom tradition represents to be the last teacher of the *ditthivāa*! Other "knots" are finally added, *viz.* *tavōkammagaṇḍikā*, *chittāntara*(*chitrāntara*)*gaṇḍikā*, *ōsappiṇi*^o and *ussappiṇi*^o, and also all sorts of stories illustrating the way how beings become gods, men, animals or hell-beings.

Abhayadēva is unfortunately very brief here, and to add to our difficulties the MS. is full of corruptions. *Abh.* refers especially to a *Nandīkā*,⁴⁶ composed probably in *Prākṛit*, which is, however, not the same as the commentary on N, which I have before me. This too, is very brief and presumably contains a direct citation from one of the sections which belong here. See below p. 368 on *chittāntarag*.

The fifth part is composed of the *chūliyās* — additions, which were referred to p. 358 in the discussion on part 3 to which they belong. They belong however to the first four *pūrvas* alone. According to the schol. (and also to the schol. on Hēm. 246) by these *chūliyās* we are to understand *cūlā-like* (*i.e.*, like excrescences) *paddhatīs*, which embrace that which was not

³⁹ *kriyābhīḥ samyamakriyādibhīḥ visālam*, schol. on N; *tatra kāyikyādayaḥ kriyāḥ sabhédāḥ samyamakriyā- chhédāḥ*(*chhaṇḍa*°) *kriyāvīdhānāni cha varyaṃtē*, *Abh.* (Malay. has according to Leumann: *samyamakriyā- chhāmadakriyādayaś cha*).

⁴⁰ *lōkē jagatī śrutalōkē vā 'ksharasyō 'pari viṃḍur iva sāraṃ, sarvāksharasamnipātalabdhihētuvāt*, schol. on N.

⁴¹ N has *chullavattthūni*, which is explained by the schol. by *kshullavastūni*, whereas *chūlā* is explained by *sikharam*! *Abh.* understands here, as in *aṅga* 1, *chūlā* to be secondary additions. See p. 360n.

⁴² cf. *Wilson Sel. W. 1, 285, pūrvanuyōga* on the doctrines and practices of the *Tīrthakaras* before attaining perfection, — *pūrvagata* on the same after perfection (!).

⁴³ *anuyōgaḥ, sūtrasya nijēnā 'bhīdhēyēna sārddham anu(rūpaḥ?) sambandhaḥ ity a. Abh.*

⁴⁴ *iha dharmaprapāya(na)mūlān tāvat tīrthakarāś, tēśhām prathamāṃ samyaktvāvāptilakṣhaṇapūrvā(bha)vādī- gōcarō 'nuyōgō mū'gaḥ, Abh.*

⁴⁵ *ikshv-ādinām pūrvāparaparvaparichinnō madhyabhāgō gaṇḍikā, gaṇḍikē 'va gaṇḍikā, śkārthādhikārā, grānthapaddhatīs tasyā anuyōgaḥ, schol. on N; ihai 'kavaktavyatārthādhikārāṅgaugātāvākā ('tavākyaḥ ?) paddhatayō gaṇḍikā uchyante, tāsām anuyōgō 'rthakathanavidhir ga'gaḥ Abh.*

⁴⁶ See *Pet. Dict. s. v. daśārha*, attribute of every Buddha.

⁴⁷ Doubtless that of *Haribhadra* is meant. See schol. on *Gapadharasārddhasata v. 55*. This, too, is indicative of the fact (see p. 284, 352) that the *Nandī* is strictly the proper place for that entire treatment of the 12 *aṅgas*, which later on found a home within the fourth *aṅga*. See p. 349, 363.

treated of in all the four preceding⁴⁷ parts of the *drishtivāda*. [361] The text, however, takes pains to limit them to the first four *puvvas*.

In the final remarks in reference to the complete extent of the *ditthivāda*, the following parts are ascribed to it, — 1 *suyakkhandha*, 14 *puvvas*, *saṅkheyya* “computable” (perhaps “innumerable,” see above, p. 281) *vatthu* and *chūla*(*chulla* N) *vatthu*,⁴⁸ and *pāhuḍa* (*prābhṛita*), *pāhuḍapāhuḍa*, *pāhuḍiyā* and *pāhuḍiyapāhuḍiyā*, to which the same epithet is attached. The *payasahassa*,⁴⁹ *akkhara*, &c., are characterized by the same epithet, *i.e.*, *saṅkheyya*.

Though the scholia fail to explain further the words *pāhuḍa*, &c., they manifestly signify the same as chapter, paragraph, &c., and are actually so used⁵⁰ in upāṅgas 5, 7; and in aṅga 10 (see p. 333), the word *pāhuḍa* is used in connection with the 14 *puvvas*. In the Anuyōgadvārasūtra (end of the *pamāṇa* section), the *ditthivāda* is said to be computed according to *pāhuḍa*, *pāhuḍiā*, *pāhuḍapāhuḍiā*, and according to *vatthu*. This method of counting is said in the Anuyōgadvārasūtra to be similar to the division of the *kālia sua*, *i.e.*, into *uddēsaga*, *ajjhayaṇa*, *saṅkaṁdha*, *aṅga*, which is there contrasted with the *ditthivāda*. *Vatthu* appears in *up.* 6 as the name of the sections of *up.* 5 and 7, in which it no longer occurs in this signification.

If we now cast a glance at the entire field of information which we possess in regard to [362] the twelfth *aṅga*, it is manifest that, though this *aṅga* had a genuine existence, nevertheless the information at our command produces an impression of less weight than that concerning the previous eleven *aṅgas*. In the case of the latter we possess the texts themselves as a means of verification, but in the case of the twelfth *aṅga* there is no such help upon which we can rely.

These statements, and especially those in reference to the 14 *puvvas*, are, however, not purely fictitious. This is clear from the citations adduced above in our consideration of each, and especially of 2—4, 7—10, and from traditions in reference either to the extracts from them or to their relations to the origin of some of the seven schisms. Another proof of the validity of these statements lies in the fact that the number of the *vatthus*, *māyūpadāni* and *suttāni*, contained in the *ditthiv.*, which is mentioned in *aṅga* 4 §§ 13—16. 18. 20. 25. 46 and 88 is in direct agreement with the later statement of contents. Finally the name *pāhuḍa* in *aṅga* 10 appears in direct connection with the 14 *puvvas*. At the period of the *Āvaśyakasūtra*, especially, and at that of the Anuyōgadvārasūtra these texts must still have existed, and perhaps even at the time of the older commentaries (cf. e.g., p. 347n.), if the statements of the latter are not mere reproductions of old traditions. See p. 225.

The statement of the contents of *aṅga* 12 is found in *aṅga* 4, or *Nandī* (N), and is as follows:—

Sé kim tam ditthivācē? ditthivācē nam savvabhāvaparūvaṇayā⁵¹ āghavijjanti,⁵² sé samāsaō pañchavihē paṇi[363](*ṇattē*), tam: parikammaṇ⁵³ suttāim puvvagayam⁵⁴ anuyōgō⁵⁵ chūliyā; — sé kim tam parikammaē? 2 sattavihē paṇi, tam: siddha⁵⁶sēṇiyāparikammē,⁵⁷ maṇussasē⁵⁸, buddhasē,⁵⁹ ugghaṇasē⁵⁹, uvasampajjanasē⁶⁰, vippajahanasē⁶⁰, chuyāchuyasē⁶⁰; — sé kim tam siddhasē⁶¹?

⁴⁷ *ina drishtivādē parikarma-sūtra-pūrvagatā-nuyōgōktānuktārthasamgrahapaddhatayah* (*samgrahaparā graṁthapaddh.* N Schol.) *chūlāh*.

⁴⁸ The number of *vatthu* and *chūlav.* for the 14 *puvva* at least, was shortly before (cf. p. 359) stated with exactness in the text itself.

⁴⁹ See above for the fabulous accounts of the scholia.

⁵⁰ The name *pāhuḍa* is found in the *Siddhapañchāsikā* of *Dēvēndrasūri* in 50 *gāthās*. The author, in v. 1, says that he has taken his material *sirisiddhapāhuḍās*. See above p. 354.

⁵¹ ABC, °vaṇā N.

⁵² ABC, °mmē N.

⁵² ABC, °jjaī N.

⁵³ ABC, °gaē N: when I henceforth cite N alone, ABC agree.

⁵⁴ BC, °ugō A, °ōgē N.

⁵⁶ siddhi AN.

⁵⁷ (tāni siddhasēṇīkāparikarmādi(dini) mūlabhēdatah eaptavidhāni, mātrikāpadādyuttarabhēdāpēkshayā tryaṣṭividhāni, schol. on N.

⁵⁸ BC, putthasē° AN.

⁵⁹ °pā BC, °pa AN.

⁵⁹ BC, ugāḍha A, ôgāḍha N.

⁶¹ siddhi A.

têrasiya⁹⁹suttaparivâdî; ichch-êiyâim bâvisam chaũkkañaiyâñi¹⁰⁰ sasamayassuttaparivâdî¹; êvâm êva sapuvvâvarênam² atthâsî³ suttâim⁴ bhavânti 'titi⁵-m-akkhâyam⁶; se 'ttam suttâim.

Sê kim tam puvvagaê⁷ puvvagaê choddasavihê⁸ pañ, tam: uppâyapuvvam, aggênîyam,⁹ viriyam, atthinatthippavâyam, nânappavâyam, sachchappavâyam, âyapp., kammapp., pachchakkhâñapp.,¹⁰ vijjâñuppavâyam, avamñham, pânâum,¹¹ kiriyâvisâlam, lôgabiñdusâram; — uppâya-[366] puvvassa nam¹² dasa vatthû chattâri chûliyâ¹³ vatthû pañ^o, aggênîyassa¹⁴ nam puvvasso choddasa v. bârasa¹⁵ chûliyâ¹³ v. pañ, viriyapuvvassa atthâ v. atthâ chûliyâ¹³ v. p., atthinatthippavâyassa¹⁶ atthârasa v. dasa chûliyâ¹³ v. p, nânappavâyassa nam puvvassa bârasa v. p., sachchappavâyassa nam p. dô¹⁷ v. p., âyapp. nam p. sôlasa v. p., kammapp. nam p. tîsam v. p., pachchakkhâñassa nam p. visam v. p., vijjâñupp. nam p. pannarasa v. p., avamñhassa nam p. bârasa v. p., pânâussa nam p. têrasa v. p. kiriyâvisâlassa nam p. tîsam v. p., lôgaviñdusârassa nam p. panavisam v. pañ; dasa choddas' atthâ atthârasêva ('sa N) bârasa duvé ya vatthûñi¹⁸ | sôlasa tîsâ visâ pannarasa añuppavâyammi || bârasa êkkârasamê bârasamê têrasê 'va vatthûñi | tîsâ puña têrasamê choddasamê¹⁹ pannavisâ u || chattâri duvâlasa atthâ chêva dasa chêva chûla²⁰ vatthûñi | âillâña chaññham sêsâñam chûliyâ na 'tthi ||; se 'ttam puvvagayam.²¹

Sê kim tam aṇuyôgê²² a°gê duvihê p., tam: mûla²³padhamâṇuyôgê ya gamñiyâṇuyôgê ya; Sê kim tam mûlapa°gê²⁴ ettha²⁴ nam arahantâñam bhagavamtâñam puvvabhavâ²⁵ dèvalôgagamañâim²⁶ âum²⁷ chavañâim²⁸ jamma[367]ñâñi ya abhisêyâ râyavarasirî²⁹ siyâu³⁰ pavvajjâ³¹ tavâ ya bhattâ³² kêvalanânuppâyâ³³ titthappavattañâñi ya, sañghayañam,³⁴ saññhâñam uchchattam âum³⁵ vannavibhâgô,³⁶ sîsâ gañâ³⁷gañaharâ ya, ajjâ pavattiñi³⁸, sañghassa chañvihassa jam châ 'vi³⁹ parimâñam, jîña⁴⁰mañapajjava⁴¹ oliñâñi⁴² sammattasuyanâñiñi⁴³ ya vâdî⁴⁴ aṇuttaragati ya⁴⁴ uttaravêuvvîñô⁴⁵ ya muñiñô jattiyâ 2 siddhâ, siddhapahô⁴⁶ jaha dèsiô jachchiram kâlâm, pâdvagaô⁴⁷ ya jô jahim jattiyâim⁴⁸ bhattâim chhêyâittâ⁴⁹ aṇtagađê⁵⁰ mañivaruttamê⁵¹ tamaraô-ghavippamukkê⁵² siddhipaham⁵³ aṇuttaram cha pattê,⁵⁴ êê annê ya êvam-âñ⁵⁵ bhavâ mûla⁵⁶. padhamâṇuyôgê kahiya âghavijjamtî⁵⁷ pannavi° parûvi°; se 'ttam mûlapadhamâṇuyôgê; — sê

⁹⁹ sîm A.¹⁰⁰ yâim N, ñayâñi A.¹ N adds suttâim.² pûrvâparasamudâyarûpêna sarvasamñkhyayâ, schol. on N.³ °sîti B, °sîti C, °sîi A, ° sai N.⁴ °ñi A.⁵ titti A, tîti N, bhavattiti BC.⁶ °iyâim BC, °iyâñi A, °iyam N.⁷ See Abhayadêva's scholion, above, p. 216. The anonym. schol. on Nandî has the foll. iha tirthakarasa tirtha-pravartanakâlê gañadharân adhikriya pûrvam pûrvagatasûtrârtham bhâshatê, tatañ pûrvâñy uchyantê; gañadharâ api tathai 'va rachayamti pasêad âchârâdikam.⁸ chañdd° N.⁹ ABC, aggênîyam N, aggênî° N ED. (accord. to Leumann).¹⁰ BC, °ñuppavâyam A, kkhâñam N.¹¹ BC, pânâu A, pânâo N.¹² N adds puvvassa.¹³ chulla° N.¹⁴ °ñfassa N.¹⁵ duvâlasa N.¹⁶ °yapuvvassa N.¹⁷ dôññi N.¹⁸ mûlavatthûñam N.¹⁹ AN, chañda° BC.²⁰ chulla° N.²¹ gaê A; sê 'ttam p. omitted in N.²² BC, ôgê N, ugê A; and so throughout.²³ N. omits.²⁴ ABC, mû°gê N.²⁵ arhatâm bhagavatâm samyaktvabhavâd ârabhya pûrvabhavâh, dèvalôkagamanâni, têshu pûrvabhavâshu châ 'yuh, dèvalôkêbhyas chyanam, tirthakarabhavatvêno 'tpâdas, tatô janmâni, tatañ sailarâjê surâsurair vidhiyamânâ abhisêkâ ity-âdi pâthasiddham yâvan nigamanam; iha sarvatrâ 'py apântarâlê vartibhyô vadvyah (vah°) pratiniyataikârthâdhikâras, tatô vahuvachanam: schol. on N.²⁶ NA, °pâñi BC.²⁷ N, âñm A, âu BC.²⁸ N, chayâñi BC, chiyâñi A.²⁹ N, ritô BC, rû A. (N ED. breaks off, Leumann says, at abhisêyâ and is merely prâthamabhâga.)³⁰ N omits.³¹ N, jîñto BC, jîñu A.³² ABC, uggâ N.³³ A, ppâyâtâ BC, ppâyâo N.³⁴ sañgha° to vibhâgô omitted in N.³⁵ âñ A.³⁶ vañavibhâu A.³⁷ ABN, gañi C.³⁸ N, ññ ABC.³⁹ vâvi ABC, cha N.⁴⁰ jîñâ BC.⁴¹ vâ N.⁴² nâñi N; hiñâñi to siddhâ omitted in A.⁴³ BC, pavâi N.⁴⁴ °gañ a N.⁴⁵ utt. ya m. in N alone.⁴⁶ siddhapahô to kâlâm in N alone.⁴⁷ N, pâdvagaô BC, pâdvagañ A.⁴⁸ AN, jêtti° BC.⁴⁹ ABC, chhêittâ N.⁵⁰ N, °jô BC, kađô A.⁵¹ N, °mô ABC.⁵² N, kkâ ABC.⁵³ BC, sidha A, mukklasuham N.⁵⁴ N, pattâ ABC.⁵⁵ âñi A.⁵⁶ A omits.⁵⁷ âgh. p. p. omitted in N.

kim tam gamḍiyāṇuyōgē? 2 anēgavihē pannattē, tam jahā⁵⁸: kulagaragamḍiyāō⁵⁹ titthayarag. gaṇadharaḡ. ⁶⁰ chakkaharag. ⁶¹ Dasārag. Baladēvag. Vāsudēvag. Harivaṃsag. ⁶² Bhaddabāhug. [368] tavōkammag. chittamtarag. ⁶³ ōsappiṅg. ⁶⁴ ussappiṅg. ⁶⁵ amaranaratiriyāniraya ⁶⁶ gati⁶⁷ gamaṇa viviha pariyaṭṭaṇṇuyōgē, ⁶⁸ ēvam-āḍiyāō⁶⁹ gatigamḍiyāō⁷⁰ āghavijjantī panna⁷¹ parū⁷¹; sē 'ttam gamḍiyāṇuyōgē.⁷²

Sē kim tam chūliyāō? ⁷³ jan nam⁷⁴ āillāṇam chaṇṇham puvvāṇam chūliyāō, ⁷⁵ sēsāim puvvāim achūliyāim⁷⁶; se 'ttam chūliyāō.

At the conclusion of this review of the 12 *aṅgas*, I present the apostrophe to eternity, which is given in *aṅga* 4 and in *Nandī*, in entire agreement with each other, at the close of their statement of the contents of the *aṅga*. With all the unwavering firmness of this apostrophe it looks like a protest against all who might either doubt or attempt to undermine its validity (see p. 293):—

Ichch ēiyam duvālasamgam gaṇipidagam atitē⁷⁷ kālē aṇamā jīvā āṇāō⁷⁸ virāhittā chānram-tasamsārakamātarām aṇupariyaṭṭimsu; ⁷⁹ ichch ēiyam du° ga° paḍuppannē [369] kālē (*bis*) aṇupariyaṭṭimti; ⁸⁰ — ichch ēiyam du° ga° aṇāgaē kālē (*bis*) aṇupariyaṭṭissamti; — ichch ēiyam du° ga° atitē kālē a. j. āṇāē ārahittā chā° vīvatimsu, ⁸¹ . . vīvaṃimti, . . vīvaissamti; — ichch ēiyam du° ga° na kayāi na āsi, ⁸² na kayāi na tthi, na kayāi na bhavissai, bhuvim⁸³ cha bhavamti ya⁸⁴ bhavissamti ya, ⁸⁵ dhuvē nia⁸⁶ sāsaē akkhaō⁸⁷ avvaē⁸⁸ avatṭhiē⁸⁹ nichchē; ⁹⁰ sē jahā nāmaē paṇca atthikāyā na kayāi na āsi na kayāi na tthi na kayāi na bhavissamti, ⁹¹ bhuvim cha bhavamti ya bhavissamti ya dhuvā nitiyā⁹² jāva nichchā, ēvam ēva du° ga° na kayāi na āsi (*bis*) nicheche; — ettha⁹³ ṇam du° gē ga° gē aṇamā bhāvā a. abhāvā, a. hēū a. ahēū, a. kāraṇā a. akāraṇā, a. jīvā a. aḷivā, a. bhavasiddhiyā a. abhavasiddhiyā, a. siddhā a. asiddhā āghavijjantī parū° panna° daṃsi° nidaṃsi° uvadaṃsi°, ēyam du° gam ga° gam.

Before I proceed further I should like to state that beside the *Vidhiprapā* of *Jinaprabha* (A.D. 1307) (see above p. 223) in the meantime two other *sāmāchāri* texts, unfortunately anonymous, have come to my knowledge. They are both written in *Prākṛit* with an occasional intermingling of *Sanskrit*, and are in agreement throughout with the statements in the *Vidhip*, which they antedate. The first of these texts, *ayāravihī*, in 21 *dāra*, contains in its tenth *dāram*, *jōgavihī*, not merely the enumeration of the *aṅgabāhira* texts, as *Nandī* [370], *Pākshikas*, and *Vidhiprapā*, especially in the form of the two latter, but also the same detailed exposition and examination of the single portions of the *aṅgas*, *upāṅgas*, &c., according to the period of time requisite for their study (measured according to *dīṇa* and *āyambīla*). The order of succession is the same as in the section of the *Vidhiprapā* which treats of this point. It is especially

⁵⁸ jahā omitted in A; instead of 2 anē° jahā N has ga°gē ṇam jahā.

⁵⁹ Thus N, °yātō BC, °yāu A; so also further on; kulakarāṇam Vimalavāhanādinām pūrvabhavaṇmanamāḍṭhi saprapamcham upavarnyamitē, ēvam tīrthakaragamḍikādishv abhidhānavaśatō bhāvanyam schol. on N.

⁶⁰ In N after Vāsudēvag. ⁶¹ BC, chakkavattī AN. ⁶² In N after Bhaddā°.

⁶³ In N after ōsapp.; chitrā anēkārthā smtarē Rishabhājitatīrthakarāpāntarālē Rishabhavānisasamudbhūtānām bhūpatinām sēshagativyudāsēna śivagatigamanānuttarōpapātipādikā gamḍikās, tāsām cha prarūpaṇā Subuddhi- uānā Sagarachakravartinō mahāmātyēnā 'shṭāpadē Sagarachakravartisuṭṭebhya Ādityasāhprabhṛitūām Rishabha- vaṇsarājānām narapatinām samkhyāpradarśanēna kṛitā, sā chā 'ichchajasāṇam Usabhassē 'ty-ādinā 'vasēyā, schol. on N.

⁶⁴ N, usa° BC, ussa A; ṇi BCN, ṇi A. ⁶⁵ BN omit; usa° A, ṇi C.

⁶⁶ niraya omitted in A; amarē 'ti vividhēshu parivarttēshu bhavabhramāṇēshu jamtūnām iti gamyatē 'maratiryagnira- yagatigamanam, ēvam ādikā gamḍikā vahava (!) ākhyāyamitē, schol. on N.

⁶⁷ gaī N. ⁶⁸ BC, °ugē A ṭṭapēsu N. ⁶⁹ yāu A, ātiyātō BC, merely āī in N.

⁷⁰ A omits. ⁷¹ N omits. ⁷² AN, gō BC.

⁷³ N yātō BC, yāu A. ⁷⁴ BC, AN omit. ⁷⁵ BC, °yāim N, yāu A.

⁷⁶ N, has avasēśa puvvā achūliyā. ⁷⁷ tīē N. ⁷⁸ āṇayā.

⁷⁹ anupariyṛittavāntah Jamālivat. ⁸⁰ nēśī N (thus in every case).

⁸¹ bhramanti. ⁸² bhavaī a N (always).

⁸³ bhūim N. (always). ⁸⁴ N omits; akshayam. ⁸⁵ bhavissai a N (always).

⁸⁶ niyatam. ⁸⁷ N omits; akshayam. ⁸⁸ avyayam. ⁸⁹ avasthitam.

⁹⁰ Instead of av. niccē N has here supariṭṭhiē. In the following repetition, however, it is the same as in the text. ⁹¹ The following is omitted in N.

⁹² ssaī N. ⁹³ niyayā N.

interesting that ten, and not five, ajjh. are here — see p. 332 — ascribed to each of the first two *vargas* of the second part of *āṅga* 6: *dusu dusu vaggēsu kamā ajjhayaṇā huṃti dasa ya chaṭṭipanna | battisā chaṭṭi aṭṭha ya dhammakahā bhā suakkhaṃdhō ||*. The text which we possess does not agree with this allotment of ajjh. The same holds good of the second of these two texts, which bears the name *sāmāyārivihi*. We read in it the following concerning the first *vagga*: *tammi dasa ajjhayaṇā*, and immediately thereupon *viē dasa ajjhayaṇā*. Since this second text is twice — at the conclusion of the *jōgavihi* section and at the conclusion of the whole — expressly ascribed⁹⁴ to Abhayadēva, or to his oral instruction of the author Paramānanda, it is very surprising that we find such differences between it and the present text, Abhayadēva himself in his commentary commenting upon that text which allots to both *vagga* only five *ajjh.* each. If the *sāmāyārivihi* appears to be more than two hundred years older than the *Vidhiprapā* on account of its pretended relation to Abhayadēva (A.D. 1064, above p. 277), [371] the *āyārivihi* must be regarded as of greater antiquity. Its author refers, at the conclusion of *dāra* 21, “*ētāni gurnkṛityāni, śrāvakaḥkṛityāni punaḥ śrīmad Umāsvātivāchaka-śrī Haribhadrasūri pratishṭhākālpādibhyō 'vasēyaṃ*” to two authors considerably before his time. In v. 50, 51 of the *Gaṇadharasārdhasatakam* composed by Jinadattasūri, the scholar of Jinavallabha who died A.D. 1112, (see Kl. 248 b), the former of the two authors is called the first teacher after the interval following upon Āryarakshita and Durbalikāpushpa (above p. 348).⁹⁵ In Sarvarājagani's schol. on the *Gaṇadharasārdhasatakam* a *śrāvakaḥkṛityāni* is cited among the 500 (or 105?) *payaraṇas (prakaraṇa)*, composed by him in *Sanskrit* according to the statement in the text. The title *śrāvakaḥkṛityāni* is in entire harmony with the statement of the *āyārivihi* just quoted. According to the *Gurvāvalī* of Tapāgacha Kl. 253^a (28) there lived an *Umāsvātikara* in 1190 *Vīra* (= *Saṃvat* 720), who is, however, distinguished from the author of the *śrāvakaḥkṛityāni* (*°ptyādi*) — (*yataḥ sammativṛittau*, cf. above p. 347, *śrī Umāsvātivāchaka ity uktam*). The latter is probably, as Klatt kindly informs me, the person of this name who appears in the Bombay MS. of a *paṭṭāvalī* of the *Vṛihat-Kharataragachha*, in the continuation of the old *Sthavirāvalī* immediately after its last member, *Dūshagani*, the teacher of *Dēvarddhigani*, and separated by one gradation alone from *Haribhadra* who is mentioned together with him in the *āyārivihi*. Since the date of *Dēvarddhigani* is 980 *Vīra*, and the death of *Haribhadra* is placed in [372] 1055 *Vīra*, see Kl. 253^a (27), tradition seems to place *Umāsvātikara*, the author of the *śrāvakaḥkṛityāni*, about 1000 *Vīra* (= *Saṃvat* 530)! While it is true that the *āyārivihi* does not claim to stand in direct connection with *Umāsv.* and *Haribh.*, merely citing them, yet this citation is of such a character that it is calculated to afford ancient testimony concerning a treatise which mentions, not sources of information of later date, but merely these two names which are manifestly of tolerable antiquity. The statements contained in this work gain consequently in authority; and the same conclusion holds good of the information of a literary and other nature in harmony therewith, contained in both *sāmāchārī* texts (*sā°vihi* and *vihipavā*). In continuing from this point on to adduce the testimony of the *Vidhiprapā* (V) especially, I do so, partly because it has a fixed date, and partly because it contains the most detailed statements. I shall, however, not fail to state where *Āyārivihi* (Āvi.) or *Sāmāyārivihi* (Svi.), which takes an intermediate position between *Āvi.* and V. as regards fullness, offer anything worthy of particular note.

⁹⁴ *siri Abhayadēva sūriguruvayaṇā mayāṃ maē ēyam | Paramānandēna kayāṃ . . || śrī Abhayadēvasūre āyasarōruhavihārīṇi (?) patrē | sāmāchārī rūmarī (?) Paramānandāt padaṃ chakrē ||*

⁹⁵ The very faulty MS. reproduces the *Umāsvāti* of the text by *Umāsvāmi* in the commentary! This form of the name is found elsewhere, e.g., in the *Vichārāṃpitasaṅgraha* as that of the author of the *śrāvā°pti*.